एकलव्य

रामकुमार वर्मा



ग्रथ-सख्या—२१६

प्रकाशक तथा विक्रेता
भारती-भडार
लीडर प्रेस, इलाहाबाद

प्रथम सस्करण
मूल्य ७)
स० २०१५ वि०

मुद्रक
चन्द्रप्रकाश पेरन
लीडर प्रेस, इलाहाबा

पूज्य गुरुदेव

आचार्य धीरेन्द्र वर्मा

की

पुनीत सेवा में

मेरे गुरु विप्र और शूद्र मैं निषाद हूँ,
किन्तु गुरु-वाणी ही अमोघ अभिषेक है।
ऊपर और नीचे क्या ओष्ठ भी नहीं हैं दो ?
किन्तु जो निकलती है वाणी, वह एक है।

आमुख

'जय' काव्य के नाम से महाभारत ने भारतीय साहित्य का गौरव विश्व-साहित्य में घोषित किया है। यह महान् ग्रंथ भारतीय संस्कृति का विश्व-कोश भी है। उसमें धर्म, दर्शन, राजनीति और समाज की अद्भुत समष्टि है। चिन्तन और व्यवहार की इस विस्तृत पृष्ठभूमि में मानव जीवन शत शत रूपों में चित्रित हुआ है। लौकिक साहित्य की प्रशस्त रचना होने के कारण महाभारत मानव-चरित्र को विपुल वैभव के साथ उपस्थित करता है और 'मनुष्य' को सर्वोपरि स्थान देता है —

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि,
नहि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।
(शान्ति० १८०।१२)

महाभारत एक महा प्रबंध-काव्य है। पूना के संशोधित संस्करण के अनुसार इसके १८ पर्वों में १९४८ अध्याय हैं और उनमें ८२,१३६ श्लोक हैं। इसमें कौरव और पाण्डवों के 'जय' नामक इतिहास के साथ आख्यानों और उपाख्यानों की बड़ी सुंदर श्रृंखला है। रामायण की अपेक्षा महाभारत में सरसता और वाक्यगत चमत्कार भले ही कम हो, तथापि कथा-सूत्रों की अनुरंजनकारिणी शैली कहीं अधिक आकर्षक है। और सब से बड़ी बात यह है कि इन आख्यानों और उपाख्यानों में मानव-जीवन अत्यन्त यथार्थवादी दृष्टिकोण लेकर सामने आया है—ऐसा यथार्थवादी दृष्टिकोण, जिसमें जीवन की स्वाभाविक दुर्बलताएँ प्रबल झंझानिल से उखड़े हुए पेड़ों की तरह भू-लुंठित हो रही हैं। इस दृष्टि से आदर्शवाद को लेकर चलनेवाली रामायण की अपेक्षा महाभारत हमारे जीवन के अधिक निकट है।

महाभारत में इतनी अधिक कथा शैलियों का संग्रह है, कि संस्कृत का परवर्ती साहित्य ही नहीं, भारत की अन्य भाषाओं का साहित्य भी उससे प्रेरणा और सामग्री प्राप्त करता रहा है। इतिहास, पुराण की परंपराएँ जीवन की विश्लेषणात्मक चिन्ता धाराएँ तथा महान पुरुषों की चरितावलियाँ उसमें सन्निविष्ट हैं। साथ-ही-साथ उसमें आर्य संस्कृति के बीच निषाद या अनार्य संस्कृति की विचार धाराओं

समाज की जसी स्थितिया महाभारत में आई ह, उनसे जीवन और उसके मनाविज्ञान के अध्ययन की पयाप्त सामग्री प्राप्त होती है। इसी सदभ में एकलव्य की कथा ह जिसके आधार पर प्रस्तुत रचना समव हा सकी।

महाभारत क सभव पव में १३२वें अध्याय के ३१वें श्लोक से लेकर ६०व श्लोक तक एकलव्य की कथा वर्णित ह। केवल ३० श्लोको मे यह कथा वडी शीघ्रता म कही गई ह। सभव ह, सभव पव की परिचयात्मक कथाओ की अधिकता महान पुरुषो के चरित्र चित्रण की चारुता तथा वणन-वचित्र्य की विशेषताओ के बीच निषाद के चरित्र के लिए यथेष्ट स्थान प्राप्त न हा सका हा फिर भी, कथा प्रसग में ऐसे सकेत अवश्य ह जिनमे निषाद-सस्कृति का उदात्त रूप हमारे सामने आता ह। महर्षि व्यास न इस एकलव्य की कथा म 'व्यास' शली का अनुसरण नही किया।

जिन प्रसगो मे एकलव्य की कथा के मनोविज्ञान में जिज्ञासा की सष्टि होती है उनमें तत्कालीन राजनीति सामाजिक स्थिति आचाय द्रोण का अथ-सकट और द्रुपद द्वारा अपमान तथा एकलव्य का आशावाद प्रमुख ह।

राजनीति—महर्षि परशुराम द्वारा पथिवी के नि क्षत्रिय होने पर क्षत्राणिया ने एकत्र होकर वदश ब्राह्मणो से पुत्र उत्पन्न किए।

एव नि क्षत्रियो लोके कृते तेन महर्षिणा।
तत सम्भूय सर्वाभि क्षत्रियाभि समन्तत ॥
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगै ।
पाणि ग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम् ॥

(सभव० १०४।५६)

क्षत्रियो के इस नव वश की रक्षा के लिए भीष्म पितामह ने आरभ से ही गहरी अन्तदृष्टि से काय किया।

नष्ट च भारत वश पुनरेव समुद्धर ।

(सभव० १०५।५३)

यही दृष्टि मानो उनकी राजनीति का माग प्रशस्त करती रही जिसमें 'न्याय' और 'अन्याय' रगहीन चित्रो की भांति अ-स्पष्ट ही रह गए।

सामाजिक स्थिति—भारतीय समाज-व्यवस्था में परम्परागत चार जातियो का उल्लेख ह। शुक्रनीति में तो य जातियाँ कम के आधार पर ही रही ह।

चतुर्धा भेदिता जाति ब्रह्मणा कर्मभि पुरा ।
(शुक्र० ४ । ५२)

ये जातियाँ अनेक भौगोलिक और ऐतिहासिक कारणो से एक दूसरे के सपर्क में आईं और अनुलोम और विलोम से ये परस्पर मिली । महाभारत के समय म ये जातिया काफी मिल चुकी थी । क्षत्रिय शान्तनु ने शूद्रा सत्यवती (मत्स्यगन्धा) से विवाह किया था । इसीलिए वनपर्व मे युधिष्ठिर का यह कथन कितना सार्थक है कि मनुष्य मे जाति की अपेक्षा शील ही प्रधान है ।

जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।
सकरत्वात् सर्व वर्णाना दुष्परीक्ष्येति मे मति ॥
सर्वे सर्वास्वपत्यानि जनयन्ति सदा नरा ।
तस्माच्छील प्रधानेष्ट विदुर्ये तत्त्वदर्शिन ॥
(वन० १८०)

आचार्य द्रोण—महर्षि भरद्वाज के पुत्र और भार्गव परशुराम के शिष्य होने के कारण आचार्य द्रोण उच्च सस्कारो से सपन्न थे । वे वेदो के जानने वाले थे, किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति ठीक नही थी ।

द्रोण धिगस्त्वधनिन यो धन नाधिगच्छति ।
(सभव० १३१ । ५६)

धन के लिए वे द्रुपद के पास गए । उसने भी तिरस्कार किया । अन्त म वे भीष्म द्वारा सम्मानित हुए और कौरव-पाण्डवो को शिक्षा देने के लिए धनुर्वेद के आचार्य नियुक्त हुए । वे गुरु होने के कारण आचार्य का दायित्व और कर्तव्य समझते थे । साथ ही भीष्म की राजनीति और तत्कालीन सामाजिक स्थिति से भी वे परिचित थे । यही कारण है कि उन्होने एकलव्य की प्रार्थना पर ध्यान नही दिया और उसे अपना शिष्य नही बनाया ।

एकलव्य द्रोणाचार्य के चरणों में प्रणाम कर वन में चला गया और वहाँ उसने द्रोण की मिट्टी की मूर्ति बना कर अभ्यास किया । जब उसे सिद्धि मिल गई, तब द्रोणाचार्य ने उससे गुरु-दक्षिणा चाही । किस आधार पर ? द्रोण ने स्वय तो एकलव्य को शिक्षा दी नही थी । और गुरु-दक्षिणा भी किन शब्दो में माँगी !

यदि शिष्योऽसि मे वीर, वेतन दीयता मम ।
(सभव० १३२ । ५४)

इतने बड़े आचार्य की प्रवृत्ति क्या इतनी क्षुद्र होगी ? आचार्य द्रोण गुरु थे, वे ऐसे शिष्य से तो और भी प्रसन्न होते, जिसने तिरस्कृत होकर भी इतनी बड़ी साधना का प्रमाण दिया था, किन्तु द्रोण ने उससे अपना 'वेतन' माँगा। निश्चय ही आचार्य द्रोण भीष्म पितामह की राजनीति से अनुशासित थे—विवश थे, यद्यपि वे आचार्य की मर्यादा समझते थे। यहा आचार्य द्रोण के चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व की संभावना है, जिसे काव्य में सजाने का यत्न किया गया है। 'आचार्य' शब्द लांछित न हो, यही विषय है।

एकलव्य का आशावाद—और एकलव्य ? वह तो निषाद-संस्कृति का ज्वलन्त प्रतीक है।

' बालक निषाद का है, किन्तु तेजोमय है
जैसे मणि रत्न है विशाल विषधर का।'
(षष्ठ सर्ग—आत्म निवेदन)

एकलव्य ने जीवन से संघर्ष लेना सीखा है। निषादराज का पुत्र होने के कारण वह शिक्षित और सुसंस्कृत है। बार-बार 'निषाद' शब्द से संबोधित होकर भी वह अपनी मर्यादा में स्थित है। उसने प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने जीवन की दिशा नहीं बदली और धनुर्वेद में अद्वितीय 'लाघव' प्राप्त किया। जब आचार्य-द्रोण ने उससे 'निराधार' 'वेतन' मांगा तो उसने जो उत्तर दिया, वह महर्षि व्यास के काव्य का भी भूषण बन गया। महर्षि ने कितने सुन्दर शब्दों में उस 'निषाद' के भावों और अनुभावों का वर्णन किया है।

किं प्रयच्छामि भगवन्नाज्ञापयतु मां गुरु ॥
न हि किञ्चिददेयं मे गुरवे ब्रह्मवित्तम ।

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीत्त्वयाङ्गुष्ठो दक्षिणो दीयतामिति ॥
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम् ।
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन्सत्ये च नियतः सदा ॥
तथैव हृष्टवदनस्तथैवादीनमानसः ।
छित्वाऽविचार्य तं प्रादाद् द्रोणायाङ्गुष्ठमात्मनः ॥
(संभव० १३२ । ५५-५८)

एकलव्य ने जिस आचरण का परिचय दिया है, वह किसी उच्चकुल के व्यक्ति के आचरण के लिए भी आदर्श है। वह 'अनार्य' नहीं, 'आर्य' है, क्योंकि उसमें 'शील' का प्राधान्य है। यही उसमें महाकाव्य के नायक बनने की क्षमता है, भले ही वह 'सुर' अथवा 'सद्वंश' में उत्पन्न 'क्षत्रिय' नहीं है।

राजनीति और समाज के अन्तराल में आचार्य द्रोण और शिष्य एकलव्य के चरित्र की व्याख्या बड़ी मनोवैज्ञानिक होगी, इसी विचार से मैंने इस काव्य की रचना की। महाभारत के इस आख्यान की संभावनाओं में ही कथा के विविध अंगों की पूर्ति नाटकीय शैली में की गई है और चरित्रों को मनोवैज्ञानिक आधार दिया गया है। उनमें जो भावगत मान्यताएँ हैं, वे महाभारत के सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी समर्थित हो जाती हैं।

मेरे लिए यह कम सन्तोष की बात नहीं है कि मेरे शैशव के संस्कारों में अंकुरित और बापू के अछूतोद्धार में पल्लवित यह कथा दस वर्षों की साधना के बाद आज की युगवाणी में प्रस्फुटित हो रही है। वह

'जन-जन-मानस को एक-रूप कर दे!'

महाशिवरात्रि, २०१४ वि०
मास्को
(सोवियत् संघ)

रामकुमार वर्मा

सर्ग-संकेत

एकलव्य

स्तव

वाणी दो, हे नीलकंठ ! हे किरात कार्मुकी !
गूँज उठे व्योम, वन, प्रांत, गिरि कंदरा।
शब्द बेध की अलक्ष्य लक्ष लक्ष ध्वनि में,
नृत्य करे काव्य और काव्य में वसुंधरा ।। १

पूर्व काल की कथा का कठिन कोदंड है,
उसमें प्रत्यंचा चढ़े मेरे महागीत की।
मेरे प्रभु ! वीर एकलव्य तीक्ष्ण तीर है,
जो भविष्य बेधता है शक्ति ले अतीत की ।। २

हे किरातराज ! मैं किरात-गीत गाऊँ जो,
'जटाटवी गलज्जल-प्रवाह' के यान हों।
'अइउण्' 'हल्' जैसे डमरुनिनाद-सूत्र
काव्य-पुष्प लेके मेरे एकलव्य गान हों ।। ३

और हे किरातकर्मी आदिकवि वाल्मीकि !
मेरी दृष्टि में सदा तुम्हारे श्री-चरण हैं।
एक अश्रु वाक्य में ही क्रौंचि यश पा गई
मेरे काव्य-गान भी तुम्हारी ही शरण हैं ॥ ४

एक बार 'मा निषाद ' कह कर तुमने,
रोकी थी 'सुगति' एक निर्दय निषाद की।
आज दूसरे निषाद के सुकीर्ति गान में,
चाहता सुमति मैं हूँ काव्य के प्रसाद की ॥ ५

प्रभु ! एकलव्य ऐसा बीज है कि जिसने,
साधना शिला के बीच अग्नि रस पाया है।
और शुष्कता में भी हरीतिमा को जन्म दे
जीवन का सत्य, शून्य नभ में सजाया है ॥ ६

एकलव्य ! मैंने आज ऐसे शब्द पाए हैं,
जो तुम्हारे शब्द बेधी बाणों से प्रचंड हैं।
झनझना उठी हैं ये दिशाएँ एक बार ही,
पक्षपाती भावनाएँ खंड शतखंड हैं ॥ ७

शब्द-बाण, ऐसे शब्द-बाण जो दिगन्त में
रवि किरणों की भाँति छूटते हैं क्षण में।
भरता है व्योम का विशाल मुख निःसृत
एक-एक विश्व मौन एक-एक कण में॥ ८

देख जानें द्रोण, यह साधना तुम्हारी है,
मृत्तिका की मूर्ति बीच साधना है स्फूर्ति की।
जड़ में भी चेतन की सृष्टि करती है जो
प्राण के कृपाण में है धार प्रण-पूर्ति की॥ ९

देखूँ, कौन है जो रोके या कि जो रुद्ध करे,
यह निषाद नाद जो स्वरान्त है गीत में।
किन्तु अवरोह में जो अग्रगण्य गेय है,
वर्तमान में सजीव, चाहे हो अतीत में॥ १०

थे निषाद-पुत्र, नीच, वर्ण-संस्कार हीन?
लांछित थे? तुमको न कोई अधिकार था?
जीवन तुम्हारा जैसे उत्सव के अन्त में,
कंठ से उतारा हुआ लुंठित-सा हार था? ११

प्रार्थना की तुमने स श्रद्धा गुरु द्रोण से ,
जैसे उषा काल में हो गायन विहग का ।
माथा टेक तुमने प्रणाम किया भक्ति से
जैसे दृढ़ कूल में समर्पण तरंग का ॥ १२

प्रार्थना की तुमने कि शिक्षा दान प्राप्त हो ,
श्याम मेघ ज्यों खड़ा हो प्राची के पथ पर ।
मांगता है रवि से प्रकाश रेखा दो मुझे
और रवि देवराज आता है रथ पर ॥ १३

चारों ओर राग की अपार शोभा सम्पदा
दान करता है अहा ! मेघ भी दिनेश सा
दीख पड़ता है और पूर्व नभ आंखों में
जगमग करता है ज्ञान के प्रदेश सा ॥ १४

किन्तु द्रोण ने किया निषेध विद्या दान का ,
क्यों किया कि शूद्र वर्ण तुम हो ? निषाद हो ?
और राजपुत्र सब श्रेष्ठ वर्ण मानव हैं ?
उनको कहीं तुम्हारी विद्या से विषाद हो ? १५

किंतु कौन था, तुम्हारी साधना को रोकता ?
साहस का मार्ग तीनों कालों में प्रशस्त है।
काल-गति से न कभी नष्ट होता शौर्य है,
ऐसा यह सूर्य है कि जिसका न अस्त है॥ १६

क्षत्रि जाति ही है अग्रणी क्या धनुर्वेद में ?
ढाल या तूणीर क्या उन्हीं का पृष्ठ भाग है ?
धनु क्या उन्हीं की शक्ति के समक्ष है झुका ?
बाण क्या उन्हीं करों से फुफकारित नाग है ? १७

तुमने 'नहीं' कहा। की ऐसी निष्ठ साधना,
एक शूद्र ने समस्त क्षत्रियों की आन ली।
मानव निर्भेद का ही लक्ष्य-बेध यों किया,
कि विश्व ने तुम्हारी बात मौन हो मान ली॥ १८

ऐसी साधना दो मुझे, ऐकाग्र एकलव्य !
एक लय मेरी लेखनी को हो तुम्हारी ही।
शब्द-बेध एक बार फिर हो, हे कार्मुकी !
चकित हो साधना से यह सृष्टि सारी ही॥ १९

प्रथम सर्ग

दर्शन

प्रथम सर्ग



'अनुपम गति से'

'कैसे ?'

'अभिमन्त्रित हो,
सींक ने विशिख रूप प्राप्त कर क्षण में,
कूप में प्रवेश किया।'

'सचमुच ! विस्मय !'

'विस्मय की बात क्या है ? मन्त्र शक्ति ऐसी है।
सींक ने विशिख-रूप प्राप्त कर क्षण में
कूप में प्रवेश किया जैसे स्मृति क्षण में
डूब जाती शैशव के सोए हुए सुख में।
एक-एक भावना को राग से जगाती है।'
'बन्धु एकलव्य ! तुम भी तो हो धनुर्धर,
रुचि रखते हो धनुर्वेद में स्वयं तुम
और श्री निषादराज पुत्र, कृतविद्य हो
ऐसी कौन सी विचित्र घटना हुई है जो
प्राण में समाई हुई प्राण बनी बैठी है ?
आदि से सुनाओ वृत्त मैं भी सुनूँ, सोचूँ तो
कैसा यह कौतुक है !'

'सुना, नागदत हे!
मैने तो प्रत्यक्ष पास होके स्पष्ट देखा है।
मैं नाराच हेतु लौह-खड क्रय करने
राजधानी में गया था, किन्तु रिक्त हस्त मैं
लौट आया, क्योंकि सब लौह भाडार थे
रक्षित कुमारों के विशिष्ट शस्त्रों के लिए।
एक विद्रोह लिए लौटा किन्तु रुक गया,
राजमार्ग पार्श्व में, समीप उस कूप के
कौतुक से देखा क्या! ये राजपुत्र सामने
खेलने के वेश में, है काष्ठ-यष्टि हाथ में,
किन्तु खेलते नहीं हैं, मौन हैं, निराश हैं,
चित्र में लिखे-से सब लज्जित अवाक् हैं
और देव द्रोणाचार्य—हाँ, यही तो नाम था।
देव द्रोणाचार्य इस भाँति हैं खड़े हुए,
जैसे भाग्य का विधान जीवित अटल है।

श्वेत जटा, विस्तृत ललाट, कसी भौंहें हैं
नेत्र हैं विशाल, रक्तवर्ण, उठी नासिका
श्वेत श्मश्रु बीच ओंठ, जैसे शुभ्र अभ्रों की
ओट सन्ध्याकाल मध्य दुर्ग का कलश है।
बोले—

'राजपुत्र! तुम कुरुवंशी वीर हो,
राज्यश्री तुम्हारे बाहु-बल की है स्वामिनी
और तुम कूप से निकाल सकते नहीं
एक क्षुद्र वीटिका? हा, क्षोभ—महा क्षोभ है!
कैसे तुम दुःख-कूप में पड़े स्वजन को
बाहु-बल से निकाल, वीर कहलाओगे?'
लज्जित हो एक राजपुत्र ने की प्रार्थना—

'देव! हम सबने उपाय किए शतश
किन्तु किसी भाँति वह वीटिका न निकली।
दीखती तो वीटिका है यह, शुष्क कूप में
और शर-चाप हैं हमारे पास। फिर भी
मन्त्र-शक्ति पूर्ण सिद्ध हो न पाई हमसे
चित्र पूर्ण हो गया, परन्तु रंग हीन है।
कूप में हमारे शर जाकर न लौटे हैं
जैसे तीक्ष्ण वाक्य-बाण मुख से निकल के
उर में प्रवेश पाते हैं सदैव के लिए।'

देव द्रोणाचार्य यह सुन कुछ सिहरे
जैसे कोई पूर्व स्मृति छूकर चली गई।
किन्तु शीघ्र सावधान होके राजपुत्र से
बोले गहरी-सी साँस लेके मन्द्र स्वर में—

'कूप में तुम्हारे शर जाकर न लौटे हैं?
जैसे तीक्ष्ण वाक्य-बाण मुख से निकल के,
उर में प्रवेश पाते हैं सदैव के लिए।
सत्य है, हे राजपुत्र! मार्मिक कथन है,
किन्तु क्या उपाय नहीं इसका है कोई भी?
जीवन भी तो है एक पूर्ण धनुर्वेद ही
तीक्ष्णतर बाण काटते हैं तीक्ष्ण बाणों को
जीवन में वैसे प्रतिशोध भी तो अस्त्र है।
अस्तु, मैं निकालूँगा तुम्हारी यह वीटिका
शुष्क कूप से तुरन्त, जानो प्रतिशोध है।'

ऐसा कह देव द्रोणाचार्य ने इकट्ठी की
मुट्ठी भर सींकें और देखा तीक्ष्ण दृष्टि से
जैसे सींक पुंज में नाराच गिरे दृष्टि के
प्रेरित हुए हों तने वक्र भ्रू-धनुष से।
फिर नासिकाग्र पर दृष्टि स्थिर करके
सींकों पर अग्नि-गर्भित दिव्य मंत्र फूंका
जैसे सिन्धु-शीश पर झंझा की झकोर हो
जैसे बादलों के शीश दामिनी की द्युति हो
जैसे वीर शीश पर पारावत पंख हो
जैसे व्योम-भाल पर सूर्य का मुकुट हो

जैसे सींक पर मानो मन्त्र स्थिर हो गया,
तीक्ष्ण दृष्टि में उसे रहा जड़ा सुरत्न सा।
और वह सींक-दण्ड शक्तिमय हो गया
जैसे प्रभु राम मित्र पूर्वज निषाद से।
एकलव्य एक क्षण को विमुग्ध हो गया
वही शक्तिमान मानो उसमें समा गया
जैसे द्रोण ने उसे ही मन्त्र-युक्त हो किया
और एक रश्मि जगी भाल पर उसके।
नागदत्त बोला—

'धन्य धन्य मन्त्र-शक्ति है!'
एकलव्य मानो जगा सहसा ही स्वप्न से।
और फिर सावधान हो गया, सुनाने को
वृत्त वही जो कि उसे प्राण से भी प्रिय था।
'हाँ, तो वह सींक बाण शक्तिमय हो गया
देव द्रोणाचार्य ने कुमार का धनुष ले
शीघ्र ही सन्धान किया मन्त्रमयी सींक का
सिंहकर्ण मुष्टि से प्रत्यंचा कड़ी खींच के
सूचीमुख सींक से भरतव्याय ले लिया
जैसे झुके मेघ पर विद्युत् का बाण है।
सींक ने विशिख रूप प्राप्त कर क्षण में

कूप में प्रवेश किया, मैं तो वहीं पास था।
हम ने क्या देखा अति कौतुक से क्षण में।
वेध दिया दृढ वीटिका को उस सींक ने।'
'धन्य! फिर क्या हुआ?'

'हाँ, 'धन्य' 'धन्य' शब्द था।
देव द्रोणाचार्य ने ली सींक फिर दूसरी
उससे मिलाके तीक्ष्ण दृष्टि, पूर्व सींक का
पृष्ठ खंड वेध दिया। दोनों सींकें एक हो
लघु रेख में समान एक बाण हो गई।
क्रमशः इसी भाँति पूर्व प्रेषित सींक के
पृष्ठ-खंड वेधते चले गए आचार्य वे
कूप तल से लगा के कूप के मुख तक
एक सींक बाण में थी विद्ध वह वीटिका
जैसे भाग्य के विशाल कर में मनुष्य हो।

देव द्रोणाचार्य ने उठाया बाण जैसे ही
बाण के समेत वीटिका थी उठी हाथ में।
लघु मुस्कान से उन्होंने वह वीटिका ले
डाल दी कुमारों के समक्ष, जान यों पड़ा
जैसे किसी पन्नग का काटा हुआ फण हो।
'धन्य' 'धन्य' चारों ओर घोर रव छा गया।

राजपुत्र सारे हर्ष में निमग्न हो गए,
किन्तु एक ने विचित्र कुटिल कटाक्ष से
नासा-पुट स्पन्दित कर व्यंग्य मुस्कान में
'धन्य' कहा स्पष्ट कहा 'इन्द्रजाल' धीरे से।

'इन्द्रजाल' शब्द क्षीण वायु पर लघु था
किंतु द्रोणाचार्य के श्रवण तक पहुँचा
क्षोभ को दबा के कुछ मुस्कुरा के बोले वे
कंटकों के ऊपर ज्यों पाटल के दल हों।
'राजपुत्र ! जानता हूँ आर्य कृपाचार्य ही
गुरु हैं तुम्हारे, किंतु सीखी नहीं उनसे
स्पष्ट और शिष्ट वाणी ? नाम क्या तुम्हारा है ?'
'सुयोधन है, आर्य। मेरी शंका तो यह थी
वीटिका तो वेध्य है परंतु वह वस्तु जो
मध्य भाग से है हीन जैसे '
'यह मुद्रिका ?'
आर्य ने अनामिका से धीरे से उतार ली।
'मुद्रिका, हाँ, ठीक है, तो कैसे यह वेध्य है ?'
'और भी सरल होगा वेध सकना इसे।'

ऐसा कह शीघ्रता से आर्य द्रोणाचार्य ने
फेंकी वह मुद्रिका सवेग शुष्क कूप में।

चकित सुयोधन ने देखा दृग फाड़ के,
जैसे शून्य अम्बर में धुँधली सी रात में
टूट कर नीचे गिरे एक लघु तारिका।

फिर एक कौतुक का दृश्य हुआ सामने,
एक दूसरे का मुख देखते कुमार थे,
कभी श्रद्धा, विस्मय से आर्य पर दृष्टि थी,
और आर्य? पुन उन्होंने मन्त्र-पूत किए
सीक बाण, धनुष उठाया फिर कर में
श्याम मेघ में सजा हो इन्द्र धनु ज्यों अहा!
शीघ्र ही प्रत्यंचा खिंची वत्सकर्ण व्याय में,
चलाचल लक्ष्य से उन्होंने सीक-बाण को
मुद्रिका के मध्य भाग में प्रवेश करके,
उस को बना दिया ज्यों कर की अनामिका
कूप की परिधि बीच मानो बाण व्यास था।
फिर अन्य सूची-मुख सीक बाण क्रम से,
पूर्व की ही भांति पृष्ठ-भाग वेधते हुए
लाये वे प्रलम्ब बाण कूप के मुख तक।
शीघ्र ही अनामिका-स्वरूप बाण साथ ले,
वेग से उठाया उस लम्बीकृत शर को।
और मुद्रिका को शुष्क कूप से निकाल के,

फेंक दिया आर्य ने सुयोधन के सामने।
' देव ! क्षमा चाहता हूँ, धृष्टता की आपसे।'
' तुमको किया क्षमा, हो शिष्य कृपाचार्य के,
अत: क्षमा के तुम निश्चय अधिकारी हो।
जाओ और शिष्ट वाणी सीख कर बोलना।'
ऐसा कह देव हँसे जैसे साध्य नभ की
छाया पड़ी जल के तरंगित मुकुर में।
एक क्षण में गंभीर हो गए। कुमारों को
लक्ष्य कर बात कही—
' राजपुत्र कुरु के !
देखना, भविष्य में किसी भी अन्य व्यक्ति को
आना पड़े रक्षा के लिए न तुम वीरों की।
वीटिका की भाँति यदि राजदण्ड कूप में
पतित हुआ तो कौन ब्राह्मण निकालेगा ?
क्षत्रिय हो, राज-धर्म चाहता है तुमसे
जीवन धनुष पर तीर रखो प्राण का।
धर्म वीटिका पड़ी हो यदि छद्म कूप में,
तो निकालो शीघ्र उसे लक्ष्य-वेध करके।
कोमलता राजपुत्र के लिए कलंक है।
शक्ति हीन होने की अपेक्षा प्राण हीनता

श्लाघ्य है, तुम्हारी मातृ-भूमि पावे तुमसे
शब्द-वीरता न, किन्तु शब्द वेध-वीरता।'

एकलव्य की भुजाएं रोमाञ्चित हो उठीं,
किन्तु वह सावधान होके कुछ क्षण में
मुग्ध नागदत्त को सुनाने लगा वृत्त यों—
(नागदत्त देख सका था न रोमाञ्च यह।)

'ज्येष्ठ जो कुमार दीखते थे बोले नत हो
देव! आपने जो दिव्य वाणी कही, सत्य है।
हम सब उसको निभावेंगे सदैव ही।
क्षत्रिय हैं, राज-धर्म जीवन का धर्म है।
जीवन धनुष पर तीर होगा प्राण का।
देव! भवदीय लक्ष्य-वेध की प्रवीणता
अद्वितीय मानता हूँ। मस्तक झुकाता हूँ।
पूज्य गुरुदेव कृपाचार्य के प्रसाद से,
आपका नैपुण्य जानने की हुई योग्यता।
मैं युधिष्ठिर पाडुपुत्र, माता देवी कुन्ती।
ये सुयोधन, पूज्य धृतराष्ट्र के पुत्र हैं।
(देव मुस्कुरा उठे, सुयोधन थे लज्जित।)
मेरा लघु भ्राता यह अर्जुन है सामने,
जिसके धनुष को दिया है यश आपने।'

(अर्जुन कर जोड देव सम्मुख नत थे
मानो मध्य भाग से झुका हुआ धनुष था।)

देव तुष्ट थे। पुन युधिष्ठिर ने प्रार्थना
की—

'प्रभो! करें कृतार्थ परिचय दे हमें,
आपका सु नाम किन अक्षरों की शोभा है?
आप किस वंश के प्रदीप्त मणि दीप हैं?'
देव हो प्रसन्न बोले—

'राजेन्द्र राजपुत्र!
द्रोण मेरा नाम और भरद्वाज - पुत्र हूँ,
श्रेष्ठकुल अंगिरा में जन्म लिया मैंने है।
और धनुर्वेद यही जीवन का धन है।
यदि चाहते हो तुम, मेरी कुछ सेवा हो,
गुरु कृपाचार्य से ले आज्ञा भक्ति भाव से,
वीर श्रेष्ठ भीष्म को दो इतनी सी सूचना—
एक धन हीन कृष्ण काय श्रेष्ठ विप्र है,
श्रेष्ठतर धनुर्वेद जीवन का धन है।
जानता है इतना कि क्षत्रियत्व बाण में
किस राजनीति की क्षुरप्र खर धार है॥'

देव द्रोणाचार्य की प्रभावपूर्ण वाणी से,

राजपुत्र मोहित से दीख पढ़ने लगे।
तत्क्षण ही धन्वी वीर अर्जुन ने आगे हो,
प्रार्थना की—

'देव! आप साथ साथ चलिए,
कष्ट न हो आपको तो हम सब शीघ्र ही
प्रार्थना करेंगे आर्य भीष्म से कि आपको
राज्य में प्रतिष्ठा दें वे, और सहदेव को
गुरु कृपाचार्य की अनुज्ञा लेने भेज दें।'
वीर द्रोणाचार्य ने प्रसन्न हो दी स्वीकृति
और वे बढ़े समस्त राजपुत्र साथ ले
उनका गमन इस भाँति शोभनीय था
भक्ति-भावना के अग्रभाग में ज्यों प्रेम हो!

राजपथ से चले। वे दूर गए मुझसे,
किन्तु प्राणादर्श में समाते गए क्रम से
देखता रहा मैं दूर दूर घने वृक्षों में,
लीन वह दृश्य हुआ। मैं वहीं खड़ा रहा,
निश्चल अवाक् सा, न जाने देर कितनी।

नेत्र तो खुले थे, किंतु दृष्टि थी न उनमें।
जब कुछ भान हुआ, लेके साँस गहरी,
मैं उठा समीप कोई भी नहीं, अकेला था,

जैसे बुझ जाय और अग्नि भस्म शेष हो।
देव द्रोणाचार्य के जहाँ पर चरण थे
धूल उस स्थान की लगाई इन आँखों से।
कूप देखा झाँक के, वहाँ थी पूर्ण शून्यता,
जान पड़ा जैसे वह भाग्य हो दरिद्र का।
गीटिका नहीं थी, अब सींक-बाण टूट के,
भूमि में गिरे थे अस्त-व्यस्त हुए मन से।
झुक के उठाया एक बाण, देखा ध्यान से,
इसी बाण ने किया था वेध किस गति से।
अब गति हीन पड़ा, नष्ट हुए भाग्य-सा।
तो क्या मन्त्र शक्ति सब कुछ है प्रयोग में?
सत्य, यह सत्य है, यह निश्चित सत्य है।
ये लताएँ, वृक्ष, यह भूमि, यह जल है,
किन्तु ऋतु मन्त्र है तभी तो पुष्प आते हैं।
मन्त्र था समाप्त हुआ! बाण यह जड़ है।
डाल दिया भूमि पर बाण, दीर्घ साँस ले
अब वह सींक से न लेश भी अधिक था।
किन्तु देव द्रोणाचार्य का अमोघ मन्त्र ले,
मेरा रोम रोम दिव्य बाण-सा प्रखर था।
जैसे द्रोणाचार्य के अदृश्य हाथ साथ थे।

मैंने कहा उनसे कि 'तेजोमय रूप हे!
चाहता मैं शिक्षा धनुर्वेद की हूँ तुमसे,
प्रभु! मुझे दिव्य मन्त्र दे दो, गुरु मेरे हो।'

कल्पना-तूणीर में विचारों के नाराच थे,
उनका नवीन अभिधान करता रहा।
लौटा नहीं देर तक, भाग्य कोदण्ड पर
उनका स लक्ष्य में सधान करता रहा।

द्वितीय सर्ग

परिचय

द्वितीय सर्ग



कनक - कुसुम - जैसा अनुपम पुर है
हस्तिनापुर । नरेश कुरु धृतराष्ट्र हैं,
प्रज्ञाचक्षु । देखते हैं प्रतिभा की दृष्टि से,
जैसे मेघ नेत्र हीन, किंतु सारे नभ में
विचरण करता है और कृपा - जल से
पुलकित करता है जीवन का दान दे ।

शतपुत्र उनके । जैसे एक अंकुर में,
उठे शत पत्र हैं अथवा एक निद्रा में,
सुख के शत स्वप्न सजे । गान्धार राज्य की
सुबल सुपुत्री धन्य महासती गान्धारी
राजरानी ऐसी हैं पतिव्रत परायणा
बहुगुण पट से उन्होंने नेत्र बांधे हैं,

जैसे रवि बादलों की ओट में रहे न क्यों,
किन्तु फैलता प्रकाश पृथ्वी पर वैसे ही
बंध दृष्टि देखती है सब कुछ सृष्टि में।
पति [illegible] नेत्र-हीन [illegible] पत्नी स नेत्र होकर

कैसे यह देख ले कि पति नेत्रहीन है !
शुभ्र लोचनों से अत कैसे दोष देखें वे !
कैसे करूँ देव ! यह प्रार्थना मैं तुमसे,
एकलव्य काव्य दोष भी न तुम दरसना !

राज सभा शोभित है ! शक्ति के अपाग में
शोभा की छटा है ! शिल्प जैसे ऋतुराज है !
प्रस्तर स्तम्भों में खिलाए पुष्प जिसने हैं,
कलियों की एक-एक पँखडी है खिलती,
लतिका के बीच पुष्प, पुष्प-बीच लतिका,
काव्य बीच कल्पना है कल्पना में काव्य है।

एक एक प्रस्तर में शत शत चित्र हैं,
निर्मल सरोवर में, मच में या तरु में,
हस, क्रौंच, पारावत, कोकिल, मयूर हैं,
नारियों की शोभा खिंची शत शत रूप में।

लज्जा, हँसी, शील और प्रेम की सुचारुता,
दीपक लिए है कोई आरती की मुद्रा में,
कजरी का भार लिए लज्जित तन्वगी है,
नायक से फेरे मुख कोई मुग्धा मानिनी,
नृत्य की कला में खिंची वक्षोचन-नारी है।
एक-एक कण लिए है शिल्प की चेतना,

प्रस्तर के खण्ड जैसे सुमनों के दल हैं।
या दी कला ने है उन्हें मोम जैसी मृदुता,
जड़ जैसे चेतन बना है इस कक्ष में,
शिल्प ने है सांस भरी प्रस्तर के तन में।

नाना रंग रंजित ये चित्र हैं सुहावने,
इनमें जड़े सु रत्न लाल हरे-पीले हैं,
जिनकी प्रभा में इन्द्रधनुषों के वृत्त हैं।
रेशम की झालरें हैं, द्वार-पट वस्त्र हे।
जिनमें अनेक मुक्ता-मालाएँ सजी हुई।

स्फटिक के मंच कक्ष में अनेक हैं बने
जिनमें वैदूर्य मणि स्थान स्थान हैं जड़े।
धन्य यह कक्ष! स्वर्ण मंच पर मध्य में
कुरुराज धृतराष्ट्र। दाहिने समीप ही
तपोव्रत-धारी वीर भीष्म श्री गांगेय हैं,
श्वेत केश राशि है। ललाट दिव्य है, अहा!
जैसे पुण्य पुंज में प्रशान्त तीर्थराज है!
अंकित विशाल है विश्वास वट वृक्ष-सा,

पत्रावलि पीत है। मध्य में थे तीन बिन्दु,
जैसे थे वे सूक्ष्म फल अर्थ, धर्म, मोक्ष के।
नेत्र हैं विशाल मानो जाह्नवी के मीन दो

सा॑थ जल की सुरम्य लालिमा में लीन है।
उन्नत है नासा जैसे धर्म - नीति - रेखा हो।
वक्षस्थल पुष्ट जैसे मेरु समतल है।
बाहुएँ विशाल मानो लक्ष-लक्ष विद्युत्
गूँथ कर स्थूल बनी शक्ति के विचार से।
ब्रह्मचर्य तेज रवि रश्मि ओत प्रोत है,
उस पर कवच ज्यों सूर्य पर तेज है।
पालक हैं वे ही कुरु वंश के। सकेत से
राजनीति चलती है जैसे भूमि भेद स
तरु उगते हं, सरिताएँ बह जाती हं।

उनके समीप व्यास, कृष्ण द्वैपायन हैं
और श्री विदुर महा बुद्धिमान प्रज्ञ हैं।
बाईं ओर कृपाचार्य शरद्वान पुत्र है,
वीर सोमदत्त और कुशल वाह्लीक हैं।
उनके समीप राजपुत्र एक श्रेणी में,
सज्जित हे रंगमय सुवेश विन्यास है।

सामने सभासद हैं शत-शत संख्या में,
पंक्ति बद्ध आसन पर सौम्य नत भाव से।
चारण अनेक वीर - विरुद बखानने,
नियत दिशाओं में खड़े हे बड़े चाव से।

पीछे राज मंच के हैं मंजु मुखी दासियाँ,
पुष्प कटिबंधों से सजाए कटि अपनी,
दिव्य छत्र धारण किए हैं नरेन्द्र पर,
चँवर डुलाती हैं विलम्बित सु गति से।
राज-सभा शान्त है। महर्षि द्रोण सामने
मंच पर गौरव समेत समासीन हैं।

श्याम वर्ण किन्तु है प्रदीप्त मुख उनका,
जैसे श्याम तारिका में कान्तिमयी दृष्टि है।
श्वेत जटा निखरी है अंशुओं के मूल में।
उन्नत ललाट पर तीन खिंची रेखाएँ
दीखती हैं। भाग्य-लेख मानो तपोअग्नि में,
जलकर श्याम रेख में विलीन हो गए।
या महर्षि अग्निवेश द्वारा दिव्य साधना,
श्री परशुराम द्वारा अस्त्र-शस्त्र-दक्षता,
उत्तर पांचाल नृप द्वारा घोर भर्त्सना,
स्मृतियाँ ये रेख बन अंकित हैं भाल में।

अर्थ-भरी मुद्रा में अनेक भाव डूबे हैं,
आशा है, निराशा है, कभी विराग बीच में,
गंगा और यमुना के मध्य में सरस्वती,
दीखती है मिलती-सी एक मुख तीर्थ में।

राजसभा शान्त, धृतराष्ट्र नृप मौन हैं,
जैसे यह मौन एक पीठिका है जिसमें
भीष्म लिखते हैं राजनीति की सु मन्त्रणा,
राजवंश - गौरव की रागमयी मसि से।
आसन से भीष्म सौम्य भाव से खड़े हुए,
जैसे रवि प्राची में। समीर के प्रवाह सा
मन्द स्पष्ट कंठ—

' स्वस्ति! आपके समक्ष ये
पूज्य ऋषि द्रोण बड़े भाग्य से ही आए हैं।
(दृष्टि द्रोण ओर क्षण मात्र फिरी सब की,
जैसे वायु की दिशा में फूल बह जाते हैं।)

अग्नि के समान व्याप्त नाम तो सर्वत्र है,
किंतु आज पा सके हैं दर्शन, कृतार्थ हैं।
आज ही कुमारों ने हमें दी यह सूचना,
मन्त्र - शक्ति द्वारा अस्त्र शस्त्र की प्रवीणता

आप में अभूतपूर्व रूप से विराजी है।
कूप-मग्न वीटिका को एक लघु सींक से
मन्त्र-शक्ति द्वारा यों निकाल दिया क्षण में,
जैसे पूर्वजों का एक पुण्य, पूर्ण कुल को

पाप-गर्त से निकाल धन्य कर देता है।
('धन्य' ध्वनि गूँजी।) और अपने कुमारों से,
कुछ सून वाक्य कहे जोकि मन्त्र-तुल्य हैं
जैसे यज्ञ इंगित करता है पर्जन्य को।
क्षत्रिय हो, राजधर्म चाहता है तुमसे—
जीवन-धनुष पर तीर रखो प्राण का।
धर्म-वीटिका पड़ी हो यदि छद्म-कूप में,
तो निकालो शीघ्र उसे लक्ष्य-वेध करके।
('धन्य!' ध्वनि गूँजी फिर) ऐसे स्पष्टदर्शी श्री
पूज्य ऋषि द्रोण आज आये कृपा करके।
इच्छा सबकी है सुनें उनके श्री मुख से,
वे चरित्र जो कि कहे जाते दिशा-मुख से।
प्रार्थना है उनसे—अमृत तुल्य वाणी से
वे हमें दें पूर्ण निज परिचय क्रम से।'

भीष्म बैठे आसन पर। शीघ्र ही दृष्टियाँ
केन्द्रीभूत हो गईं महर्षि के मुख पर।
द्रोण ऋषि मानो निज मानस में डूब के
रत्न राशि-भाँति स्मृति रत्न लगे खोजने।
नेत्र बन्द। भौंहें कुछ बंकिम सी हो उठीं।
अधरों में शब्द जैसे अस्थिर निश्चल थे।
सभासद् शान्त, जैसे प्रकृति प्रसन्न है,

उत्सुक है ऋतु का प्रथम पुष्प पाने को।
'राजन् ! गांगेय भीष्म ! और सभ्य मानवो !
भीष्म का पवित्र पुण्य आज इस क्षेत्र में,
जागता है जिससे कि ब्राह्मणों की पूजा है।
मैं हूँ एक प्रस्तर का खण्ड अग्नि मुख में,
अग्नि ही की पूजा जो तपस्या का विधान है,
उससे ही जीवित हूँ, परिचय में क्या दूँ।
ऋषि भरद्वाज का अयोनिज मैं पुत्र हूँ।
अंगिरा का कुल मेरे गौरव का केन्द्र है,
और महाभाग अग्निवेश मेरे गुरु हैं।
जिनका कि जन्म हुआ अग्नि के समूह से
अग्नि-अर्चियों की अति प्रखर तपस्या से।
श्यामवर्ण वे हैं और श्यामवर्ण मैं भी हूँ।
मैंने महाभाग अग्निवेश के आश्रम में
शिक्षा समाप्त की है वेद और वेदांगों की।
साथ ही, उन्हीं से मैंने आग्नेयास्त्र पाया है,
जोकि आदि शस्त्र है और अंतिम अस्त्र है।
उत्तर पांचाल नृप पृषत के पुत्र (या
कुपुत्र !) यज्ञसेन द्रुपद सहपाठी थे।
मित्र थे (ओ मित्रघाती !) भाग्य ने किया शत्रु,

शात रहें आप। सत्य वृत्त अभी जानेंगे।
मैने गुरु सेवा की महान् ब्रह्मचर्य से,
जटाजूट धारण कर धनुर्वेद सीखा।
चल, चलाचल, द्वयचल लक्ष्य वेधा है।
एक बाण को अनेक विधि से सधाना है।
कठिन पाषाण तोड़, जल के प्रवाह में
साधना का दीपक जलाया है, बहाया है।

पिता ब्रह्मलोक गए, मित्र गए पांचाल,
लौटा निज आश्रम में आग्नेयास्त्र साथ ले
गुरु का अमोघ अस्त्र। प्रणत पदों में हो,
आज्ञा ली विनय से। था मित्र प्रेम मन में,
कैसा प्रिय यज्ञसेन। कितना अभिन्न है।
कैसा प्रियवादी और कितना प्रियकर।

इन सब स्मृतियों की रेखा प्राण में बसा,
पिता-शून्य आश्रम में आया किस दुख से।

जैसे कोई वृक्ष ले उत्साह और म्लान हो,
टूट कर नीचे गिरे पुष्प उसी थाले में।
मैं भी इसी भाव से पिता के उसी स्थान में
आकर तपस्या-लीन हो गया मलीन हो।
किल्विष थे दग्ध हुए व्रत के प्रभाव से।

और तभी पितरों का यह आदेश हुआ—
पुत्रवान मैं बनूँ तभी तो होगी सद्गति।
मान्य आदेश हुआ। महात्मा शरद्वान की,
कन्या अल्पकेशी कृपी (सत्यव्रत धारिणी,
अग्निहोत्र, यज्ञ और इन्द्रिय-विजय में,
तत्पर) था ऐसी बनी भार्या मेरे भाग्य से।
उनसे हुआ सुपुत्र अश्वत्थामा विक्रमी,
सूर्य के समान दिव्य, जैसे ऋषि अस्थि से
वृत्रासुरनाशी बना इन्द्रदेव-वज्र था।

कौन पिता होगा नहीं तुष्ट ऐसे पुत्र से?
जोकि वर्षा काल मेघ मध्य स्वाति जल है।
पूर्ण सतुष्ट बना निज प्रिय आश्रम में
धनुर्वेद प्रेम से सिखाता रहा शिष्यों को।

किन्तु अब आश्रम में शिष्य मेरे कम थे,
तरु पर पत्र कम होते हैं शिशिर में।
वैभव के साधन थे नष्ट-प्राय। दान से
आश्रम यह हीन था। राजपुत्र थे नहीं,
जोकि गुरु दक्षिणा से आश्रम के कोष को
राजकोष जैसा बना देते निज श्रद्धा से।
सीखा नहीं हाथ का पसारना कि दान दो,

आश्रम रहे या चला जाय शून्य गर्त में।
आश्रम था हीन जैसे चन्द्र का ग्रहण हो,
सोचा—दान लूँगा नहीं शूद्र के समान मैं।
चाहता था दान मैं विशुद्ध धर्मानुकूल,
ऐसा सोच आश्रम को छोड़, परिवार ले,
देश देश घूमता फिरा मैं, पर व्यर्थ था।
शुद्ध दान मुझको मिला न कहीं प्रेम से।

वारि मूल से विहीन सरिता जो होती है,
सूखती है वर्षा काल बीतने के बाद ही।

अन्तार्दंत करते परिक्रमा, मैं पहुँचा,
एक जन पद में जहाँ कि एक गोष्ठ था।
गो अनेक रूप-रंग की, पवित्र संपदा
देख के प्रसन्न हुआ। चाहा कोई दान दे
गो का शुद्ध भाव से। परन्तु मेरा नाम भी
पूछा न किसी ने वहाँ। एक दिन ठहरा।
कृपी मुझे देख और अश्वत्थामा माता को
देख दुखी, तीनों जैसे दुख के अतिथि थे।

प्रात काल। गो-दोहन वेला। जागा ग्राम था।
घर घर गायें दुही जा रहीं। भर भर
दूध बड़े पात्रों में पुरुष और नारियाँ,

ले ले जातीं और शिशु मार किलकारियाँ,
पी रहे थे दूध। मेरा शिशु भी तो भूखा था।
उसने स-तृष्ण हमें देखा और दौड़ के
जा मिला उन बालकों में। हाय! मैंने देखा
बालकों ने दूध न दे, घोल चावल चूर्ण,
पुत्र को पिलाया, वह नाचता सा आ गया!
बोला—'पिता! आज मैंने दूद पिआ गाअ का
गाअ का ऐ दूद पिआ! दूद पिआ गाअ का!'
और सब बालक थे, देख देख हँसते,
चावल दिखा के कहते थे, 'यह गाय है!
उस मूर्ख बालक को देखो, यह गाय है!'

अशनि निपात हुआ, हाय! मेरा पुत्र! तू,
जग में अनाथ जैसा, एक घूँट दूध भी

भाग्य में न तेरे है क्या? और मैं पिता भी हूँ!
वेद वेदाग - विज्ञाता! धनुर्वेद-आचार्य!
कुत्सित रे द्रोण! सब तेरी शक्ति व्यर्थ है,
मारे चन्द्र मंडल में एक बाण क्या न तू!
चू पड़े सुधा की धार, पुत्र पी ले नाच के।
अमृत की धार, केवल धार अमृत की,
बालक ये पीते रहें दूध दुग्ध पात्र से।

पुन पान करे सुधा - धार सुधाधार से।

किन्तु यह असम्भव था ! कल्पना व्यर्थ थी,
लौट आया पत्नी पुत्र लेके निरुपाय हो।
अपने ही आश्रम में निश्चित निष्कर्ष सा।
धन ही है साधन सुख और सम्मान का।'

(स्वेद-कण मस्तक का पोंछ उत्तरीय से,
द्रोण क्षण एक मान होकर फिर बोले—)

'उस काल मैंने सुना, जामदग्नि तेजस्वी
परशुराम श्रीमहेन्द्र पर्वत त्याग के,
जा रहे हैं वन में सर्वस्व दान रूप दे
श्रेष्ठ ब्राह्मणों को। मन चाही वस्तु माँग लें।
अस्त्र, शस्त्र, ज्ञान और सम्पदा जगत् की।
जानता था, जामदग्नि नीति शास्त्र वेत्ता हैं।
दिव्य अस्त्र और धनुर्वेद के आचार्य हैं।
क्षत्रियो से जीती हुई सम्पदा अपार है
उनके संरक्षण में। दोनों वस्तुओं की थी
चाह मन में रही। क्योंकि धनुर्वेद ही तो
मेरा ज्ञान-पथ था और अब एक मेरा
छोटा परिवार था। मेरी प्रिय भार्या कृपी,
और शिशु अश्वत्थामा। दोनों मेरे हाथ में

चाप और शर जैसे शोभित अपूर्व थे।
दोनों सुविधा से रहें। धन की अपेक्षा थी,
जो न अन्न पास था हमारे किसी मात्रा में।
सम्मति ली माया से। स्थिर यह मैंने किया,
जामदग्नि से प्रभूत धन तथा ज्ञान ले,
होंगे हम पूर्ण सुखी ज्यों मधु माधव के,
साथ ऋतुराज का प्रभाव अप्रमेय है।
साथ शिष्य लेके महेन्द्र गिरि आए हम,
देखा भृगुनन्दन को। सूर्य के समान हैं!
अस्ताचलगामी सब अंशु बांटते हैं वे,
एक-एक बादल का और स्वय सौम्य हो,
कितने अरुण हैं वे! नेत्र स्थिर होते हैं,
अब देखने के लिए मुख बिम्ब उनका,
रागमय हो रहा जो वीतरागी होने को!
भूमि पर टेक माथा अति नम्र भाव से,
हमने प्रणाम किया, नाम लिया अपना,
पूर्ण दिया वृत्त श्री पिता का और कुल का,
हो प्रसन्न बोले शान्त भार्गव जितेंद्रिय
'द्विजश्रेष्ठ! स्वागत है! बोलिए, क्या इच्छा है?'
मैंने प्रार्थना की—' तेजरूप महा राम हे!

वित्तकाम हूँ मैं, चाहता हूँ धन आपसे।
जितना भी दे सकें, मैं जितना भी ले सकूँ।'

किंचित उदास हुए, राम यह सुन के,
क्षितिज में जैसे छिपा कुछ रवि बिम्ब हो।
बोले तपोधन—'आप आए कुछ देर से,
रत्न और स्वर्ण सब दे चुका हूँ दान में,
श्रेष्ठ ब्राह्मणों को। तथा सागरान्त धरणी
धारण किये है श्रेष्ठ माला नगरों की जो,
कर दी प्रदान मैंने कश्यप को है अभी।
शेष है शरीर मेरा और अस्त्र शस्त्र हैं।
युद्ध-अग्नि से तपा शरीर यह मेरा है,
दिव्य अस्त्र शस्त्र हैं। हे द्रोण। इनमें क्या दूँ?'

मैंने साँस गहरी ली। स्वप्न भंग हो गया,
धन के लिए ही यह यात्रा तो हमारी थी।
वह धन पाया होगा हाय! ऐसे विप्रों ने,
जोकि मूल्य जानते न होंगे उस धन का।
हाय रे विधाता! जल सींचता है सिन्धु में,
तारकों की राशि मिलती है हिमकर को।

देख मुझे चिन्तामग्न, बोले राम भार्गव—
'द्रोण! कहो, क्या दूँ तुम्हें? हो रहा विलम्ब है,

दिव्य अस्त्र अस्त्र या शरीर ? क्या दूँ ? बोलो ना ?'
मैंने कहा—' देव ! धन यदि हो न शेष तो,
दीजिए मुझे समग्र निज अस्त्र शस्त्र ही।
उनके प्रयोग के रहस्य मुझे ज्ञात हों,
उनके चलाने तथा रोकने की विधियाँ,
दीजिए मुझे, हे राम ! चाहता हूँ आपसे।'
बोले वे—' तथास्तु '।

मुझे सेना में निवास दे,
शीघ्र सिखलाए मुझे मन्त्र अस्त्र शस्त्र के।
व्यूहों के निर्माण और संचालन सेना के,
शत्रु को हराने के उपाय, जय-युक्तियाँ,
आयुध बनाने और नष्ट करने के जो,
मन्त्र थे, वे जान लिए अस्त्रवेत्ता राम से।
आशिष दिया अमोघ सद्गुरु ने प्रेम से
हो भरत वाक्य जैसे शिक्षण के नाट्य का।
और वे चले गये, वनों में तप करने,
जैसे एक एक रश्मि बादलों को दान दे
अस्ताचल मेरु में विलीन होता रवि है।

अस्त्र शक्ति प्राप्त कर मैं वहीं विमूढ था,
सोचता था-' जाऊँ कहाँ, निज परिवार ले !

धन से रहित हूँ मैं, अस्त्र शक्ति चाहे हो,
कौन पूछता है, ऐसे जलहीन अभ्र को?
सुंदर भले ही हो, परन्तु वह शून्य में,
उठता है, गिरता है, जीर्ण-शीर्ण होता है।
किंतु मेरा प्रण था कि धन-हीन होके भी,
होगी कभी स्वीकृत न सेवा अन्य जन की।'

सहसा ही ध्यान आया मित्र यज्ञसेन का,
(सांस गहरी ले द्रोण फिर कुछ ठहरे।)
थोड़ी कथा शेष है, कहूँगा शीघ्र ही उसे।
मर्म भेदी बाण के समान वह सालती,
संभव है, कह दूँ तो कुछ शांत पाऊँगा।

(बंद कर आँखें, फिर स्मृति-सूत्र पकड़ा,
और कहने लगे वे कुछ आर्द्र स्वर से।)

मित्र यज्ञसेन, वह मेरा बाल्य बंधु था,
जानते हैं आप श्री द्रुपदराज उसको।
यह निर्देश मैंने पहले किया ही है कि
यज्ञसेन प्रियतम मित्र था, सुहृद था।
जब कभी आश्रम में वैभव की बातों से,
मेरी भावनाएँ राग रंजित-सी होती थीं।
जैसे तुला बैठ गुंजा रत्न की बराबरी

करता है। तब मित्र यज्ञसेन कहता—
कहता था—'द्रोण! मैं पिता का प्रिय पुत्र हूँ,
मेरा अभिषेक होगा तब तुम आना। मैं
द्वार पर स्वागत करूँगा पुष्प वर्षा से।
आधा राज दूँगा तुम्हें और भातृ भार्या से,
हँस के कहूँगा—'राजरानी! अब छोड़ दो,
धूप-छाह वाली गृह नीति की विडंबना।
राजनीति चरणों में नूपुर-सी गूँजेगी।'

ऐसे प्रिय वाक्य मेरे मित्र के थे कितने!
एक-एक वाक्य मेरी भावना के सूत्र में
मोती जैसा गुम्फित था। आज वह मित्र है,
उत्तर पाचाल का नरेश शैलशृंग सा।

अर्थ की दरिद्रता से और स्वाभिमान से,
तुच्छ नर सेवा हेतु नत होना पाप है।
निश्चय किया कि हम शीघ्र प्रस्थान करें,
यज्ञसेन के समीप, जो अब नरेश है।
कहता था—'आधा राज्य दूँगा तुम्हें प्रेम से।'
आधा राज्य दे न हमें, किंतु अर्थ हीनता
निश्चय हरेगा वह। उसकी शपथ क्या
अर्ध से भी अर्ध और अध रहेगी नहीं?

निणय पत्नी से कहा। अति ही प्रसन्न हो,
स्वीकृति दी उसने। माता की प्रसन्नता से
बालक प्रसन्न हुआ, जैसे किसी नद में,
आकर स-वेग मिलें दो प्रवाह और भी।
आश्रम निज आये, आवश्यक ले वस्तुएँ,
श्रेष्ठतम वस्त्र जो थे, हँसकर पहिने,
आश्रम-फलों को भेंट-रूप रख वस्त्र में,
हमने प्रस्थान किया। आर्या सती साथ थीं,
और चन्द्र बिम्ब सा कुमार आगे आगे था।
कुछ कुछ धूमिल था रुकता के मेघ से।
आये हम शीघ्र यज्ञसेन के नगर में,
सोचा—'यह तो हमारे मित्र ही का स्थान है,
यहाँ सब अपने हैं, कौन यहाँ दूसरे।
प्रति प्रिय दीखते हैं, वासी इस राज्य के।'
राजद्वार आये, द्वारपाल सामने ही था।
उससे कहा कि 'महाराज की श्री सेवा में
सूचना दो—

मंगल हो! वीर महाराज का!
द्रोण भारद्वाज हैं अभिन्न मित्र आपके,
आये हैं दर्शनों के हेतु निज आश्रम से।

पत्नी भी साथ है जो मार्ग कष्ट झेल कर,
आपका ऐश्वर्य दिव्य देखने को आई है।
और एक शिशु है, समझ लेंगे आपही,
कौन है वह। स्नेह का सदा ही आकांक्षी है।'

सोचते थे हम—'यज्ञसेन दौड़े आवेंगे।
परम सुहृद थे, वे कहा करते थे—मैं
द्वार पर स्वागत करूँगा पुष्प वर्षा से।'

किंतु वे न आए, द्वारपाल ने ही हमको
सूचना दी—'महाराज व्यस्त हैं बहुत ही,
किन्तु थोड़ी देर को विशेष कृपा दृष्टि से
मिल लेंगे आपसे वे। कुछ देर ठहरें।'

देखा मुझे जाने किस अर्थ भरी दृष्टि से,
भार्या ने। विवश दृष्टि मैंने नीचे कर ली,
धीरे से कहा कि 'राज-कार्य की व्यवस्था में,
ध्यान से हृदय की बात भी भूल जाती है।'

कुछ क्षण बीते। एक अन्य द्वारपाल ने
आकर कहा कि—'विप्र द्रोण जो कि आए हैं,
पत्नी-पुत्र साथ, वे कहाँ हैं? शीघ्र आवें वे
साथ मेरे। ये हैं? चलिए श्री राजकक्ष में।'
द्वारपाल से कहा कि—'मार्ग दिखलाओ तो

एक क्षण को ही महाराज मिल लेंगे जो,
जान लेंगे हममें परस्पर क्या भाव है।'
द्वारपाल आगे चला। चकित कुमार भी,
मेरा कर थामे चला। पत्नी साथ साथ थी।
आश्रम-फलों को यत्न से सम्हाल वस्त्र में।
राज-कक्ष सामने था, मानो इन्द्रपुर हो।
रत्नमय सीढ़ियां। थे हेम के द्वार-स्तंभ।
पाट-वस्त्र शोभा रंग रंग की जहां तहां,
कौतुक से स्तंभित-सी दृष्टि पड़ी सामने—
हेम का सिंहासन था। उस पर मित्र था।
मेरा उर विस्मय से, हर्ष से भरा हुआ
बोल उठा—

'यशस्वी श्री महाराज जय हो।'
मेरी ध्वनि गूँज उठी, मन्द स्वर भार्या ने
जैसे दुहराया वाक्य—'महाराज जय हो।'
भोला-सा कुमार बोला—'मग्रालाज जग्र ओ।'

तीन वाणियाँ बनी, त्रिवेणी सी सुकक्ष में,
महाराज ने उठाई दृष्टि—शून्य दृष्टि थी।

बैठे वे रहे गम्भीर मंच से उठे न वे,
मानो मंच मुद्रिका में रत्न से जड़े हुए।

देखते रहे हमें, न जाने किस दृष्टि से !
एक क्षण को मुझे भी यह संदेह हुआ,
'मैं भी द्रोण हूँ नहीं ? या भार्या रूपी अन्य है ?
कैसे यह यज्ञसेन ! यज्ञसेन तो हैं ये !
क्यों नहीं ये जानते मुझे ? मैं भारद्वाज हूँ !
द्रोण हूँ ! सखा हूँ ! प्रिय मित्र ! प्रिय भ्राता हूँ !

चकित से देख मुझे, महाराज धीरे से
मुस्कराए। मैंने ले सहारा मुस्कान का ही,

विह्वलता बीच कहा—'महाराज ! राजन् !
जान नहीं पाए क्या ? मैं द्रोण भारद्वाज हूँ !
महाभाग अग्निवेश के पुनीत गृह में,
साथ साथ पढ़ते थे, साथ साथ खेले थे।'
महाराज हँसे कुछ, साहस मुझे हुआ,
समझा कि जागी अब स्मृति कुछ उनकी।
आगे कुछ बढ़ मैंने आग्रह के स्वर में
कहा—'भाई मानते हमें थे, ये हैं आपकी
भ्रातृजाया।' पत्नी ने बढ़ाई भेंट सम्मुख।
'कीजिए स्वीकार यह तुच्छ भेंट फल की।'

महाराज ने हटा ली दृष्टि उस भेंट से,
मैंने कहा—'लीजिए न तुच्छ भेंट फल की !

फल उस पेड के है, जो न लगा मुझसे ,
आपने लगाया था, नवीन आलवाल में ,
यह तो अवश्य ही स्मरण होगा आपको।
सींचा उसे नित्य कर-कम ’

‘ बस शान्त हों। ’

महाराज ने विचित्र शुष्क कण्ठ से कहा—
‘ विप्र ! व्यर्थ बातों के लिए न अवकाश है। ’

जैसे सांस खींच ली किसी ने मेरे कंठ से ,
जलते स्वर से कहा विकल हो के ‘ मैत्री ! ’

‘ मैत्री ? रही होगी , पर अब क्या है ? मैत्री है ?
किसकी है ? किससे है ? विप्र की नरेश से ? ’
पृथ्वी घूमती-सी जान पडी चारों ओर, मैं
कैसे सुनता रहा, हा ! मित्र की ये सूक्तियाँ (?)—
‘ अश्रोत्रिय की श्रोत्रिय से ? क्लीव की शूर से ?
अ-रथी की रथी से ? या रंक की धनद से ?
मिथ्या है ! मिथ्या है ! विप्र ! यह वाक्य समझो ,
मित्रता सदैव सम-श्रेणी में ही होती है।
आयु के समान मित्रता भी बीत जाती है।
जाओ फिर आश्रम में। सत्य क्या है, समझो।
मंत्री ! इन्हें भोजन दो, आज जैसा चाहें ये।

कल सतोष से ये आश्रम चले जावेंगे।
बस, अब है न अवकाश मुझे थोडा भी।'
पत्नी के दृगों में अश्रु बिन्दु कुछ छलके,
शिशु चुपचाप था, उदास माँ के पार्श्व में।
फल बिखरे थे मच के पदस्तल पर,
क्षोभ और ग्लानि से हृदय अगार जैसा
धक् धक् जलता था। मेरा रोम-रोम ही
सूची के समान खिच लगा मुझे छेदने।
पल पल का कष्ट, युग-युग की पीडा थी।
दात वज्र जैसे सधि-हीन कसे मुख में,
ओठ भूमि कप से फटे हुए शिखर थे,
जीभ जैसे सर्पिणी-सी ऐंठी निज बाबी में,
स्वेद जैसे आग की नदी बही हो सिर से।
शब्द विष की प्रचड ज्वाला में बुझे हुए,
तीर जैसे निकले—
'द्रुपदराज! तुमसे
राजनीति तेरी यह कहती नहीं है क्यों?
पूर्व मित्र बदी रहें, तेरे इस राज्य में।'
शूली वेग से बढे तुरत मुझे मारने
किन्तु भ्रू क्षेप से निवारण किया नृप ने।

मैंने कहा—

‘ प्राण-भय विप्र को कभी नहीं ।
प्राण दड दे मुझे तू । नारी और शिशु को
होम कर दे तू राजनीति यज्ञ-कुड में ।
मित्रघाती ! तूने आज ब्राह्मण के उर में
किया पदाघात । यह राज्य और सपदा
तेरी मित्रता की भाँति शीघ्र बीत जायगी ।
जा रहा हूँ आश्रम में, यदि मैं अ बन्दी हूँ ।
और यदि नारी तथा बालक स्वतंत्र हैं ।

सत्य यह जानूँगा कि मित्र नृप होने से ,
मित्रता का कचुक उतारता है सर्प सा ।

सर्प-सा ! ’ पुन कहा कठोर बनी वाणी से ।
द्रोण धूमकेतु जैसे अग्नि-मय हो उठे ,
ससद में दवे कठ से विमुक्त वाणियाँ
होने लगीं द्रुपदराज-निन्दा - भरी हुई ,

द्रोण स्वेद पोंछ बोले—‘ क्षमा चाहता हूँ मैं ,
पूर्व-स्मृति जाग उठी, विह्वल-सा हो गया ।
कक्ष का न ध्यान रहा, भावना में डूबा मैं ,
क्षमा करें आप, अब शेष रहा वृत्त क्या ?
आश्रम में आया जलता सा, अग्नि पुंज सा ,

अपनी दरिद्रता का धूम लिए साथ में।
लक्ष्य वेध करता सा मित्र के हृदय का,
करता रहा मैं धनुर्वेद अभ्यास नित्य।
एक दिन पत्नी ने ही यह प्रस्ताव किया,
अपने कुमार को लगाए हुए उर से—
'भाई द्रुप के समीप चलें कुछ काल को।'
आ गए हम हस्तिनापुरी के प्राचीर में
आर्य भीष्म के महान् व्रत से जो शुभ्र है।

अग्निहोत्र करके खड़ा था प्रात वेला में,
देखा—राजपुत्र सब चिन्तित, उदास हैं।
वीटिका गिरी है शुष्क कूप में, न कोई भी
उसको निकाल सकने में कृत कार्य है।
मुझसे कहा, तो मैंने मन्त्र-युक्त सींक ही,
क्षण में सधान कर वीटिका निकाल दी।
भार्गव से हों ये राजपुत्र धनुर्वेद में,
कामना यह विप्र करता है सद्भाव से।'

मौन, हुए द्रोण, 'साधु-साधु' ध्वनियाँ उठीं
राज कक्ष के सदस्य श्रद्धायुक्त हो गए।
भीष्म धृतराष्ट्र से परामर्श लेते हुए,
आसन से उठे और बोले स्पष्ट वाणी में,

जैसे राज कक्ष वाणी मुखरित हो उठी।

'धन्य हम सुन यह वृत्त आर्य द्रोण का।
उनका चरित दिव्य अग्नि सा प्रदीप्त है।
महाभाग अग्निवेश और जामदग्नि की
अस्त्र शस्त्र विद्या के धनी हैं, अधिकारी हैं।
तपोपूत, धनुर्वेद ज्ञान अद्वितीय है,
वे प्रकाड पंडित व्रती वेद-वेदांग के।

आर्य कृपाचार्य के प्रस्ताव से प्रसन्न हूँ,
वे हों अधिरक्षक समस्त शस्त्रागारों के।
करता मैं घोषणा हूँ, शासन की ओर से
आर्य द्रोणाचार्य गुरुवर्य हों कुमारों के।

तृतीय सर्ग

अभ्यास

तृतीय सर्ग



'साधु!'—

यह नाद नील नभ में निनाद ले,
बिखरा दिशाओं मध्य। लौटा घन चौगुना,
और उसी क्षण वीर अर्जुन के तीर से
भास सिर भूमि पर लुंठित था सामने।
'साधु! साधु!'

गूँजा शब्द फिर गुरु द्रोण का।
अर्जुन ने मस्तक झुकाया श्रद्धा-भाव से,
अन्य राजपुत्र कुछ लज्जा, कुछ हर्ष से—
हँसे, किन्तु भेद रहा भिन्न मुख-रेखा का।
आर्य गुरु द्रोण बोले—

'लक्ष्य का रहस्य है—
दृष्टि और लक्ष्य में परस्पर हो कर्षण,
जैसे जन्म और मृत्यु, सृष्टि के विधान में
एक दूसरे को खींचते है मौन गति से।
जन्म लेने में ही जैसे मृत्यु निमंत्रण है,

और मृत्यु में सदैव आग्रह है जन्म का।
या कि नक्षत्र हों दो दूर, किन्तु हैं खिंचे जो
एक दूसरे की सीधी किरणों की दृष्टि से।
दृष्टि और लक्ष्य एक रेखा के दो छोर हों,
उनमें स पक्ष शर की समान गति हो,
जैसे युग पक्ष में अमा और पूर्णिमा के,
दोनों छोर में सदैव चन्द्रमा की गति है।

दृष्टि और लक्ष्य में सदा ही सम भाव हो,
यदि चल लक्ष्य हो तो चल दृष्टि साथ हो।
जैसे युग नेत्र पलकों के सम पक्ष हों,
साथ साथ उठते हैं साथ साथ गिरते।

दृष्टि और लक्ष्य में न कोई व्यवधान हो,
अन्य भावना न बीच में समा सके कभी।
दोनों कोटियों के बीच जैसे प्रत्यंचा मध्य,
कोई ग्रंथि सह्य नहीं होगी किसी धन्वी को।
क्यों युधिष्ठिर! भीम! और दुर्योधन वीर!
मैंने जब पूछा तुम लक्ष्य साधो भास का,
और कहा—किसको तुम देखते हो, वीर?
बोले तुम—देखता हूँ भास तथा वृक्ष को,
भाइयों को और गुरु! आपको हूँ देखता।

सम्भव है, दृष्टि में रही हो गिरि-श्रेणी भी।

'लक्ष्य-वेध करने चले थे तुम किसका ?
भास का या भाइयों का ? वृक्ष का या गिरि का ?
जब लक्ष्य वेधने में ये अनेक दृष्टियाँ
हैं तो लक्ष्य वेध होगा कैसे एक वस्तु का ?

मैंने कहा पार्थ से—वीरवर! लक्ष्य देखो,
कार्मुक ने मंडल बनाया किस गति से!
और जब पूछा—वीर! मुझे भी देखते हो?
उसने जो वाणी कही—वही लक्ष्य-सूत्र है।
'मैं न वृक्ष देखता हूँ, पूज्य गुरु देव हे!
आप भी न दृष्टिगत हो रहे हैं मुझको,
बैठा हुआ भास मुझे दृष्टिगत होता है,
भास का न कोई अंग, मात्र सिर उसका।'
जैसे उसे आज्ञा दी, मैंने उस क्षण देखा,
बाण और भास सिर एक सूत्र रेखा में
हो गए हैं। एक बिन्दु पर बाण है खिंचा,
बिन्दु दूसरे पर ही तो भास का सिर है।

'साधु!'—मैंने कहा बाण छोड़ने के पूर्व ही,
क्योंकि लक्ष्य वेध व्यक्त हो चुका था बाण से।
वीरो! लक्ष्य-वेध में एकाग्र दृष्टि चाहिए,

शस्त्र भरता है रग मात्र दृष्टि पथ में।
एक देवता को पूजने के बहु मार्ग हैं,
लक्ष्य वेधने का बस एक यही मार्ग है।

पार्थ! लक्ष्य वेधने में निश्चय प्रवीण हो!
किंतु यह जान लो विशिष्ट सूत्र पूर्व ही,
गुण गरिमा में दोष आते दो प्रकार से,
यश-चन्द्र सूर्य ग्रसने को राहु केतु हैं।
एक अहंकार है जो छल छद्म रूप ले,
वामन सा आता है, विराट बन जाता है।
'मैं' का पद नाप लेता है त्रिलोक क्षण में,
होता है स्थापित बुद्धि के विशाल भाल पे।
सारी शुभवृत्तियाँ पाताल चली जाती हैं,
एक 'मैं' का हा अखंड राज्य होता जग में।
पार्थ! तब स्वार्थ यश केतु लिए आता है,
उसकी धवलता से कालिमा है फैलती।
गुण गरिमा का अन्य दोष यह पार्थ! है,
द्वेष एक ज्वालामुखी रूप लिए बैठा है।
क्षण क्षण आग की लपट फेंकता है जो,
हरे-भरे शोभा-शस्य नष्ट कर देता है।
जलता स्वयं है और अन्य को जलाता है,

बहता है अग्नि का प्रवाह लिए साथ में।

यह द्वेष दूसरे के गौरव शिखर को,
देख टूटता है वज्र के समान खिंच के।
है स्वयं तो नभ में, परन्तु किसी अन्य को,
भूमि से उभरता न देख सकता है जो।

या कि द्वेष घूमता है वक्र वाक्य सर्प में,
युग जिह्वा चलती है विद्युत् की गति से।
व्यंग्य के झुके से दाँत विष कोष वाले हैं,
फन फैलना है भाव, दशन स्वभाव है।
अपने विचारों के विविर में ही पैठ के,
दशन के हेतु पद-चाप की प्रतीक्षा है।

पार्थ के समान अन्य भी कुमार हैं यहाँ
वे सुन ये बातें और सुन कर समझें।
ज्ञान गिरि चढना सहज है, किन्तु वीर !
अहंकार-द्वेष जीतना महा कठिन है।
जीतो इसको हे वीर ! युद्ध में प्रवीण हो,
प्रथम शत्रु ये हैं, फिर अन्य कोई शत्रु है।

२

'आ रहे कहाँ से, पार्थ ?'

'देव ! पाक शाला से।'

'भोजन समाप्त हुआ ?'

'हाँ, समाप्त हो गया।'
'अंधकार था वहाँ तो!'
'देव! वायु थी वही।
दीपक विलुप्त हुआ, अंधकार छा गया।'
'अंधकार ही रहा क्या?'
'सूद वहाँ था नहीं,
जोकि दीप्यमान पुन: करता प्रदीप को।'
'इस भाँति खाते रहे तुम अन्धकार में?
'देव! शेष अन्न छोड़ना भी एक पाप है।'
'तब तो विचित्र एक कौतुक हुआ होगा!'
'कैसा, देव?'
'नाक और आँख ने भी स्वाद से,
भोजन का भाग कुछ पाया अवश्य होगा!'
पार्थ हँसे—'देव! यह कुछ भी नहीं हुआ।'
'होना यह चाहिए अवश्य, क्योंकि तम में,
हाथ कैसे गया होगा एकमात्र मुख में?
नाक और आख भी तो मुख के समीप हैं?
मुख से अन्यत्र हाथ जावेंगे वहाँ न क्यों!'
'किन्तु अंधकार में भी, देव! बिना यत्न के,
हाथ बस जाता रहा एकमात्र मुख में।'

'क्यों ?'

'कहूँ क्या, देव ! यह बात कुछ ऐसी है,
इसमें प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती है।'
'क्योंकि यह बात सिद्ध है अनुग्रहण से।
जन्म से ही शैशव से अब तक हाथ जो,
जाता रहा मुख में, अन्यत्र कैसे जावेगा ?
इसलिए, पार्थ ! अस्त्र साधन के कार्य में,
चाहते हो लाघव जो तुम प्रिय ! सत्य ही,
तो अभ्यास नित्य और नियमित रूप से,
तुम करो, वत्स ! चाहे दिन हो या रात हो।
तम में तुम्हारा हाथ जैसे मुख में गया,
तीर उसी भाँति तम में भी लक्ष्य वेधेंगे।

२

'तम में लक्ष्य वेध करने लगे हो, पार्थ !
बाण सूर्य रश्मि के समान गति शील है।
किन्तु यदि बोल उठे अंधकार '
'क्यों प्रभु ?
अंधकार बोल नहीं सकता है, मौन है।'
'किंतु पार्थ ! बाण-विद्या में तो वह बोलता,
शब्द करता है, जैसे नेत्र पलकों में हैं
बन्द, किंतु नींद में व दृश्य भी तो देखते।'

‘सत्य प्रभु !’

‘उसी भाँति अंधकार घोर है,
किन्तु वह शब्द करता है दिशा भेद से।
कैसे तुम तम में ही शब्द लक्ष्य साधोगे ?’
‘दीजिए सुमंत्र मुझे शब्द-लक्ष्य साध लूँ,
पूज्य गुरुदेव !’

‘मंत्र या सुमंत्र है नहीं,
यह तो समस्त ज्ञान प्रज्ञा से प्रसूत है।
और नित्याभ्यास से ही सिद्ध यह होता है।
यद्यपि श्रवण दो हैं, किन्तु यह जान लो,
ज्ञान रखते हैं वे समस्त दिशा शब्द का
दाएँ और बाएँ उनके सुग्राही द्वार हैं,
सम्पुट खुला है सामने के शब्द के लिए,
पृष्ठ-शब्द ओट में है। अतः तीव्र शब्द का
होता अवरोध और स्वस्थ श्रुति यत्न है।
क्योंकि उस ओर प्रभु ने दी दृष्टि है नहीं।

श्रवणेन्द्रिय को साधो दिशा ज्ञान प्राप्ति से,
जान लो, है शब्द का प्रसार, किस ओर से।
शब्द की तरंग चलती है इस सत्य से
किसने की चोट, किस पर, किस गति से।

जो तरग आई, वह स्पष्ट या अस्पष्ट है।
श्रवण दे दिशा ज्ञान, श्रुति शब्द दूरी दे,
प्रज्ञा से तरग की प्रसार-गति स्पष्ट हो।
तम के अज्ञात वक्ष में से शब्द आया जो,
दूर हस्त कितने है वह शर मुख से।
निर्णय करो, हे वीर! रुद्धनामा व्याय से,
शब्द लक्ष्य लेके शब्द वेध तुम कर दो।

४

पाण्डव श्री कौरव-कुमार शस्त्र-शिक्षा में,
पारगत होने लगे क्रमश प्रगति से।
गदा-युद्ध, असि चर्या, तोमर शक्ति सभी,
शिक्षा के विविध अग स्पष्ट हुए गुरु से।
गुरु की विशेष सिंह-दृष्टि थी धनु पर,
और सप्तग्रह भाति सप्त शस्त्र साथ थे,
एक एक पाडव ने, कौरव-कुमार ने,
बल से सुसाध्य किए गुरु की सुदृष्टि से।

दुर्योधन, भीम गदा युद्ध में प्रवीण हैं,
सम शृगवाले दो धराधर-से दृढ है।
सव्य अपसव्य गदा चकित वे कर के,
मडल बनाते जैसे वज्र का ही व्यूह है।
अश्वत्थामा बाण विद्या के रहस्यविद् हैं,

पद से प्रत्यचा खींच वेध करते हं वे।
सात बाण छोडते हैं एक बाण जैसा ही,
त्तिप्रता है इतनी कि बाण रेखा बनती।

नकुल, सहदेव, असि-युद्ध में दक्ष हैं,
विजय, सुन द, नन्द, श्रेष्ठ तलवार ले,
विद्युत् की गति से वे अग्र पृष्ठ दिशि से,
असि खीचते हैं, मानो प्राण खिचे शत्रु के।

युधिष्ठिर रथ श्रेष्ठ-युद्ध में समर्थ हैं,
युद्ध करते ह इस कौशल से वीर वे,
जहां मनोरथ है, वहीं पर तो रथ है,
कब किस गति से गया कहाँ, अज्ञात है।

और श्री धनञ्जय रथ यूथ यूथप हो,
सागरान्त पृथ्वी मध्य बुद्धि-योग बल से,
गदा, असि, लक्ष्य वेध, रथ-युद्ध वीर है,
सर्व शस्त्र में प्रथित हो के अतिरथ हैं।
क्षण ही में आशु और क्षण ही में ह्रस्व हो,
क्षण रथ धू समीप, क्षण वे रथस्थ हैं।
रथ को कवच देते हैं वे शर पुजों का,
यों रथ नहीं है रथ, वह है महारथी।
करते संकीर्ण युद्ध, ऐसे विस्तीर्ण होके,

लक्ष्य शत्रु वेधते हैं वे अनेक शस्त्रों से।
एक सी है शिक्षा गुरु की सभी कुमारों को
किन्तु पार्थ अग्रणी सभी में हुए शीघ्र ही।
एक सा प्रकाश रवि देता सब तारों को,
किन्तु चन्द्र सब से अधिक ज्योतिर्मय है।

५

शस्त्र शिक्षा थी समाप्त, अस्त्र आरंभ हुए,
जोकि दिव्य हैं प्रभूत शुद्ध मन्त्र बल से।
यह आग्नेय अस्त्र ज्वाला मुख बन कर,
लपटों की हिचकियाँ सी लेता गगन में,
घूमता है जैसे यह रक्त वर्ण सर्प हो।
धूम सा फूत्कार छोड़ता है क्षण-क्षण में,
अग्नि, अग्नि, अग्नि, नभ-दिशा, फिर भूमि में
नाच उठती है जैसे विद्युत् पृथुल सी
बिना मेघ मंडल के शून्य में प्रलम्ब हो,
उठती है, गिरती है, घूम घूम जाती है।

यह वरुणास्त्र जैसे शीतलता छा गई,
जल की फुहार पड़ी। छोटी छोटी बूँदियाँ,
ओस बिन्दु की अनेक वर्तुल सी सृष्टि में,
हलकी बरसती हैं, जैसे कुन्द कलियाँ।

फिर जल-धार उठी, यह जल वेग है,
घूम भूमि से है व्योम म य अर्ध वृत्त में
जैसे शेष-कुण्डली पै शत शत फण हैं,
जोकि वेग से प्रहार करने को व्यग्र हैं।
यह जल, नभ से बरसता है वेग से,
यह जल, भूमि से है तीर सा निकलता।
इस जल का न स्रोत दीखता है दृष्टि में,
और यह जल, किस ओर चला जाता है?

यह है वायव्य अस्त्र, वायु वेग से बही,
वृक्ष झुके, टूटे, गिरे वायु के झकोर से,
झोंके लड़ लड़ के विषम गति लेते हैं,
और धरा पाशु के प्रहार से है काँपती।
लहरें प्रताडित हो गति उच्चाल लेके
तोडतीं करार और जल फैल जाता है।
तीव्र श द तीव्रतर होते हैं दिग त में,
जैसे हस्ति यूथप चिंघाडता है क्रोध से।

यह है पार्ज य अस्त्र, मेघ घूम-घूम के,
सिमटे गगन में कि अ धकार छा गया।
विद्युत तड़पती है शत शत कोण ले,
गर्जन का श द उठता है महानाश सा।

कांपती दिशाएँ, नभ जकड़े छितिज को,
किसी भाँति सँभला है, घारासार वृष्टि है।
करका है और जल प्लावन का दृश्य है,
पृथ्वी और नभ जुड़े मानों जल धार से।

भौम, पार्वत, अन्तर्धान आदि ये अस्त्र हैं
जो विशिष्ट मंत्र द्वारा चालित अमोघ हैं।

दिव्य मंत्र शक्ति अग्नि वर्त्तिका है सिद्धि की
जिसके प्रभाव से प्रकाश स्वयं होता है।
आर्य गुरु द्रोण ने ये शस्त्र अस्त्र क्रम से
दे दिए कुमारों को, वे हस्ति, अश्व, रथ से
चढ़ कर नित्य ही अभ्यास करने लगे,
और भीष्म का विराट् स्वप्न भी साकार था।

लौकिक-दिव्य शिक्षा आचार्य गुरु द्रोण की
हो गई तुरंत परिव्याप्त देश-देश में।
राज वंशी और अन्य जाति के कुमार भी,
शिक्षा हेतु आने लगे भिन्न भिन्न वेश में।

चतुर्थ सर्ग

प्रेरणा

चतुर्थ सर्ग



'अपने शरों की शित नोंक से पाषाण में,
खींचता हूँ मूर्ति मैं आचार्य आर्य द्रोण की।'
'अंकित की क्यों है मूर्ति यह इस भाँति से?
बोलो, बोलो, एकलव्य!'
एक साँस गहरी
लेके एकलव्य बोला—
'नागदत्त! क्या कहूँ!
मूर्ति पाषाण पर है नहीं, वह उर में
अंकित है, यह चित्र मात्र प्रतिबिम्ब है,
जो कि नेत्र-जल में तो पड़ता है, साथ ही
पड़ता पाषाण पर, कितना प्रभाव है।
उस दिव्य आकृति का कितना प्रभाव है।

उस दिन देखा था आचार्य ऋषि द्रोण को,
मन्त्र शक्ति के प्रत्यक्ष दर्शन भी थे हुए।
एक सींक को बना के विशिख प्रचंड सा,
कूप से निकाली वीटिका थी मन्त्र बल से।

वीटिका नहीं थी, वह मेरा ही हृदय था,
जो गिरा था मेरे ही अज्ञान रूपी कूप में।
कोई भी निकाल सकने में असमर्थ था,
दृष्टि शर से उन्होंने ऊपर निकाला है।'

आई परिचारिका कहा विनत भाव से—
'मातुश्री बुला रही हैं, भोजन प्रस्तुत है।'
एकलव्य ने की भौंह वक्रिम, कहा कि 'तू
देखती नहीं है? बातें करता हूँ मित्र से।
जा यहाँ से।'

लौटी परिचारिका तुरत ही।
एकलव्य ने पुन प्रस्तर के चित्र पर,
दृष्टि केन्द्रीभूत की, कहा ले साँस गहरी,
'नागदत्त! इतना प्रकाश दिया गुरु ने,
मेरी दृष्टि उनको ही खोजती है सृष्टि में,
तारकों में, चन्द्र में, लता में पुष्प पुष्प में।

रात्रि के प्रशान्त प्रहरों में स्वप्न देखता है,
वे आचार्य सामने खड़े हैं मौन भाव से।
देखते मुझे हैं, किन्तु कहते कुछ नहीं,
मन्त्र शक्ति सा बड़ा सा चक्र घूमता हुआ,
पास मेरे आता है मैं कुछ डर जाता हूँ,

पीठिका पड़ी है, वह नोक मुख खोल के,
बोलती है—वीर ! तुम्हें डर किस बात का !
मन्त्र शक्ति ने उठाया कूप से है मुझको,
तुमको भी मन्त्र शक्ति कूप से उठायगी।

बादल सा आता है—आचार्य छिप जाते है।
एक अट्टहास गूँजता है फिर सामने।
जड़ सा खड़ा हूँ,जैसे भूमि नहीं छोड़ती।

देखता हूँ, मृत्तिका का एक बड़ा ढेर है,
अंकुर निकलते हैं, फूलते हैं क्षण में,
एक-एक फूल में है मुख आर्य द्रोण का,
हाथ जो बढ़ाया—एक पन्नग ने घूम के,
काट लिया शीघ्र मेरे दाहिने अँगूठे में।
रक्त बहा, रक्त का ही स्पर्श लगा आग सा,
जाग उठा तत्क्षण मैं, कैसा यह स्वप्न था!'
'दीखता तो शुभ सा है!'

'जो हो, किन्तु तब से
फूल में खिला सा मुख देखता हूँ आर्य का
चारों ओर। और रह रह लगता सा है
मुझे द्रोणाचार्य-श्री सकेत से बुलाते हैं।
खींचता हूँ चित्र, पेड़, पत्र, पाषाण पर,

काँपती सी उँगलियों से, काँपते से शर से।
लूँगा मंत्र उनसे मैं, मेरे गुरु होंगे वे।
प्रार्थना में उनसे करूँगा भक्ति भाव से--
'देव ! आपसे ही पूर्ण शिक्षा धनुर्वेद की
चाहता है दास एकलव्य एकलय से।
कर दें कृतार्थ मुझे शिष्य का गुरुत्व दे।
आपका मैं नित्य '

'एकलव्य ! एकलव्य रे !
है कहाँ तू ?' भीतर से शब्द गूँजा माता का।
आती गई वाणी पास--'जाने किस क्षण में,
ये गया था राजधानी, और आया जब से,
ध्यान में न जाने किसके लगा रहता है!
सन्ध्या हो गई है, और भोजन को आया ना।
जा के परिचारिका निराश लौट आती है।'
'माँ ! नहीं मैं भोजन करूँगा आज।'

'आज ही ?
देखती हूँ, कितने दिनों से यही बात है,
क्यों न तू करेगा आज भोजन, सुनूँ सही ?
बाहर क्या कोई तुझे भोजन दे जाता है ?
माना, तू निषादराज पुत्र है तो कोई क्या,

मेरे जैसा तुझको खिलाएगा दुलार से ?
कैसे ये पड़ोस के हैं बालक जो चाव से,
माँ के पास आते दौड़, माँ उन्हें खिलाती है।
हँसी भरी कोई बात कह बहलाती है,
कितनी कहानियाँ सुनाती है, हँसाती है।
पर ये तो बालक निषादराज का है ना।
काहे को सुनेगा बात। बहुत सयाना है।
चलता है जैसे बड़ी नाव लिये आता है,
खाएगा तो चार बात सोचेगा मनोमन।
हाथ होगा मुँह में तो आँखें दीवाल पर,
जैसे दीवाल, माता बन कर परोसेगी।'

'माँ! मैं नहीं खाऊँगा, माँ! मुझको क्षमा करो।'
'कैसे करूँ? तू तो रहे भूखा दिन भर का,
और तेरे भोजन की बातें भी करूँ नहीं?
आज मैं कहूँगी तेरे पिता से कि देखिए
आपका सपूत अन्न त्याग यहाँ बैठा है।'

नागदन्त ने कहा 'मा! अपना एकलव्य
चित्र है बनाता बड़े ध्यान से आचार्य का।'
'किसका?'

'आचार्य गुरु द्रोण श्री आचार्य का।'

' द्रोण श्री आचार्य का ! कौन हैं ? ये एकलव्य
क्या करेगा चित्र खींच ? उसको चितेरा भी
बनना अभी से है क्या ? वंश की परम्परा
क्या चलाएगा नहीं ? यह विचित्र बात है !
और यदि चित्र खींचे । खींचे, मैं रोकती हूँ ?
किन्तु भला भोजन से कौन-सी है शत्रुता !
चित्र खींचे दिन भर और भोजन करे ,
फिर करे बातें, वह क्या है नाम—द्रोण की । '

एकलव्य बोला—चित्र रस के गवाक्ष में—
' अच्छा, माँ ! मैं भोजन करूँगा बड़े प्रेम से ।
एक बात मेरी भी पड़ेगी तुम्हें माननी । '
' कौन सी रे एकलव्य ! बात कभी टाली है ? '
' तब तो माँ ! कह दो कि बात तेरी मानूँगी ,
कह दो ना, माँ ! कि तेरी बात '
' कह तो सही ,
पहले से ' हाँ ' भराना कौन चतुराई है ?
जो कुछ कहेगा बात सोचूँगी, विचारूँगी ,
और यदि ठीक होगी, बात बन जायगी । '
' तो फिर कहूँ मैं, माँ ? '
सुनती हूँ । '

'सुनने की
बात नहीं उतनी, जितनी करने की है।
नागदन्त ने कही जो बात आर्य द्रोण की,
सच है, माँ! आर्य द्रोण ऐसे धनुर्वीर हैं।
ऐसे धनुर्वीर हैं! कि तीर जो सधान लें,
और चन्द्रमा की ओर यों ही उछाल दें तो,
चन्द्रमा को साथ लेके तीर चला आएगा।'
'होनी-सी बात कह रे!'—माँ ने कहा हँस के।
'झूठ मानती हो? अब कैसे समझाऊँ मैं!
मंत्र शक्ति से तो ब्रह्मा, विष्णु औ' महेश भी,
खिंचे चले आते हैं, तो चन्द्रमा की बात क्या!'

नागदन्त ने भरी 'हाँ' माँ ने कहा व्यंग्य से
'अच्छी बात और आगे?'

'अब न कहूँगा, माँ!
तुम हँसती हो, जैसे झूठ बोलता हूँ मैं।'
'क्या बुरा तू मान गया? यों ही हँसती थी रे!,
अच्छा कह आगे।'

'नहीं, लाभ क्या है, जाने दो।'
'ऐसा हठी और मैंने बालक न देखा है,
हाय, राम! जो कुछ ये बातें सोच लेता है,

करता वही है, कोई लाख समझाए भी।
काहे को कहेगा आधी बात! ओ नागदन्त!
तू ही कह, बात क्या है, कैसे वे आचार्य हैं?
जिनका कि तीर चन्द्रमा को खींच लाता है!
लिखा होगा भाग्य में, तो मैं भी उन्हें देखूँगी।'

एकलव्य-ओर फेरी दृष्टि नागदत्त ने,
देखा वह फेरे मुख मौन झुका बैठा है,
जैसे वह अकथित वृत्त का ही वृत्त हो।
नागदन्त बोला एकलव्य ही के स्वर में—

'माँ! मैं कहूँ बात? सचमुच वह ऐसी है,
जिसको सुनें तो बस, ऐसा ज्ञात होता है,
जैसे कान देखते हैं और आँखें सुनतीं।
(माता मुस्कुराई) एकलव्य उस दिन माँ,
नगर गया था लौह-दण्ड कुछ लेने को,
मैं भी तो गया था कुछ दूर पहुँचाने को।
किन्तु मिले नहीं, सब धातुओं की हाट थी।
रुकी हुई राजसी विशेष शस्त्रों के लिए।
लौटा सूने हाथ। तभी उसने यह देखा—
उसने यह देखा कि, राजपुत्र जो हैं ना!
कोई बैठे, कोई खड़े, कोई गुमसुम हैं!

वीटिका गिरी है वहीं पास ही के कूप में,
उसका निकालना क्या कोई हँसी-खेल था।
करके प्रयत्न सब हार गए। देखा तो—
देव द्रोणाचार्य वीर सामने खड़े वहीं,
बोले—'राजपुत्र! तुम कुरुवंशी वीर हो,
राज्य-श्री तुम्हारे बाहु-बल की है स्वामिनी।
और तुम कूप से निकाल नहीं सकते,
एक क्षुद्र वीटिका? हा! क्षोभ! महा क्षोभ है!'
ऐसा कह सींक लेके ,

टोका एकलव्य ने—
'और यह भी तो कहा देव द्रोणाचार्य ने,
'कैसे तुम दुःख कूप में पड़े स्वजन को,
बाहु-बल से निकाल वीर कहलाओगे?'
'भूल हुई मुझसे, हाँ—'

कहा नागदत्त ने —
'यह भी कहा था और जाने कितनी कही
वीरता की बातें। फिर सींक कुछ लेकर,
फूँक दिया दिव्य मन्त्र ऐसा एक बार ही,
सींकों ने विशिख रूप प्राप्त कर क्षण में,
कूप में प्रवेश किया और बेध वीटिका,

तत्क्षण निकाली उसे ,
एकलव्य शीघ्र ही
बोल उठा—

' माँ ! ये नागदत्त नहीं जानता ।
मैंने जो सुनाई कथा, भूल गया उसमें
कितनी ही बातें जो कि वीरता की बातें हैं ।'
नागदत्त ने कहा कि

बातें मुझे आती हैं ,
भूला नहीं मैं हूँ, पर देर भी तो होती है ,
भोजन तुम्हें भी करना है, ये खड़ी हैं माँ ।
यदि विस्तार से कहूँ मैं एक एक बात ,
देर होगी और रात सारी बीत जायगी ।
और माँ ! ये एकलव्य आया जिस क्षण से ,
देख द्रोणाचार्य को, तो ऐसी हुई बात है ,
जहा देखा, चित्र ये बनाता द्रोणाचार्य का ।
शर-मुख से ही पेड़, पत्ती, पाषाण पर ।
भक्त बना बैठा है ये देव द्रोणाचार्य का ।
जानती हो, माँ ! किया क्या इसने निश्चय है ?
' मंत्र लूँगा उनसे मैं, मेरे गुरु होंगे वे ।'
सुना, द्रोणाचार्य गुरु होंगे एकलव्य के !

देख नागदन्त को तभी कठोर दृष्टि से
एकलव्य बोला—

'तो तो इसमें क्या हानि है?
मन्त्र लूँगा उनसे मैं, मेरे गुरु होंगे वे।'

'अच्छा, अब समझी मैं, तेरी यही बात थी।
'हा' भराना चाहता था, भोजन के पहले।
'हाँ' भले ही भर दूँ मैं, इतना तू जान ले,
वे हैं आर्य, हम शूद्र, हम सब शूद्र हैं।
आर्य और शूद्र कैसे गुरु शिष्य होंगे रे?
तेल अपने में क्या मिला सकेगा पानी को?
पूछ ले पिता से, वे तो नित्य आते-जाते हैं
राजधानी। विप्र और क्षत्रियों ने क्या कभी
भेंट की है उर से लगा के एक बार भी?
हैं निषादराज, पर अन्त में निषाद ही।
श्री-निषाद को कु विप्र पास आने देगा क्या?
अजन है शोभा और ज्योति इन आँखों की,
पर जब लगता है, आँखें मुँद जाती हैं।'

'ठीक कहा तुमने, माँ! एकलव्य भोले हैं।
बात कोई देखी नहीं, झट मान लेते हैं।'

'ऐसा मैं नहीं हूँ, नागदन्त! तुम जानो क्या!

देखो द्रोणाचार्य को, तो घर भूल जाओगे!
उनके पदों की धूल नेत्र से समेटोगे!'

'अच्छा, एकलव्य! करो भोजन, मैं कल जा
उनकी पद धूलि रथ-भर ले आऊँगा।
उसकी ही मूर्ति बना बार-बार पूजना!
'आर्य द्रोणाचार्य! मैं तो भक्त जन्म जन्म का,
मुझको उबारो तात! मुझको उबारो हे!'
अच्छा, चला मैं! माँ! प्रणाम!'

नागदत्त गया,
एकलव्य पर फेंक हास्य व्यंग्य दृष्टियाँ।
जैसे लक्ष्य ने ही लक्ष्यी वेध कर डाला हो,
एकलव्य उभरा-सा एक अध व्रण था,
भीतर हो टीस और बाहर न मुख हो!

नागदन्त था नहीं कि एकलव्य उसका
व्यंग्य फेर देता, दस व्यंग्य साथ करके,
जैसे खेत, एक बीज दस कर देता है।
जलता सा एकलव्य बोला—

'माँ! नागदत्त
सत्य ही है नागदत्त! झुक कर टेढ़ा हो,
विष भरता है एक एक वाक्य दंश से।

मुझसे तो मेरी-सी औ' तुम से तुम्हारी-सी
बातें करता है नित्य, जैसे घट-जल हो,
डाल दो जो रंग, वही रंग भर लेता है।'
'नागदत्त तो बेचारा सीधा छल हीन है,
शिक्षा ही उसकी क्या है! बात मुँह आई जो
कहता है। उसे, तुम ज्ञानी हो, क्षमा करो!
अब उठो भोजन को।'

एकलव्य धीरे से
उठा और उसने ली एक सांस गहरी।
सेवक ने स प्रणाम आके कहा—'शीघ्र ही
आ रहे हैं स्वामी।'

और शीघ्र ही चला गया।
मां ने एकलव्य से कहा कि

'तेरे पिता-श्री
आ रहे हैं। बात फिर होगी सावधानी से।'
एकलव्य ने कहा कि

'मेरी बात पूरी हो।
मां! आचार्य द्रोण से ही बाण-विद्या सीखूँगा।'

'सीख तू अवश्य ही ले किन्तु यह सम्भव,
कैसे होगा? लाल! यह वर्ग-भेद टेढ़ा है।

वे हैं बड़े आर्य और गुरु हैं कुमारों के,
कैसे एक शूद्र पुत्र को वे शिष्य मानेंगे ?
'मैं तो मना लूँगा उन्हें।'

'यदि नहीं माने वे ?'

'मानेंगे वे क्यों नहीं, माँ! पास यदि उनके,
मन्त्र शक्ति है तो भक्ति शक्ति मेरे पास है।'
'कैसी भक्ति शक्ति ?'

गूँजा पिता-स्वर पास ही।

आ गए वे जैसे मुक्त दूरागत वायु ने
कुञ्ज को हिलाया लता-पुष्प डोल जाते हैं।
एकलव्य जननी ने देख पति सामने,
न्यस्त शिरोवस्त्र फिर यस्त किया, बोली वे—

'आ गए! ये एकलव्य भक्त बना बैठा है
भोजन छुआ नहीं है। कहता है, आज्ञा दें,
द्रोणाचार्य—राजधानी में आचार्य कोई हैं,
राजपुत्रों आदि के। तो कहता है, उन्हें ही
बाण विद्या में बनाऊँगा मैं गुरु अपना।
यदि मैं कहूँ न 'हाँ', भोजन करेगा नहीं।'

'भोजन करेगा नहीं ?' पिता हँसे। बोले वे—
'रूठने से बाण विद्या भी क्या कभी आती है!

और रूठा शिष्य किस गुरु ने बनाया है ?
एकलव्य यदि बाण विद्या और चाहता,
पहले बना ले लक्ष्य प्रश्न ही को।'

पिता ने
एक अट्टहास किया। एकलव्य भी हँसा।
'तब तो पिताश्री! आर्य द्रोण गुरु होंगे ना?'
'आर्य द्रोण जानें यह, मैं तो पिता मात्र हूँ!'
'फिर भी पिता-श्री! मेरी इच्छा '

'जानता हूं मैं,
जानता हूँ यह भी कि आर्य द्रोणाचार्य की,
ख्याति धनुर्वेद में है फैल चुकी इतनी,
दूर दूर के अनेक राजवंशी कुमार
ही न, किन्तु अन्य जाति के कुमार आते हैं,
बाण-विद्या सीखने को। किन्तु सन्देह है कि
वे निषाद-पुत्र को बना लें शिष्य अपना!
'मेरा अपराध क्या है?'

'वह कुछ भी नहीं।'
'शूद्र जाति मेरी है?'
'ना, बात यह भी नहीं।'
'फिर क्या बात है?'

'बात सुन यह ध्यान से।
मैं तो राजधानी के प्रत्येक वर्ग, व्यक्ति से
नित्य मिलता हूँ, अत जान यह पाया हूँ।
आर्य जाति फिर से विकास पथ पर है।'
'भोजन हो जाये फिर बात हो सकती है।'
एकलव्य जननी ने टोका।

पिता हँस के
बोले—
'यदि भोजन के साथ साथ बात ही
पेट में समा गई तो? ठहरो, चले अभी।
हाँ, तो मैं कहता था कि आर्य-जाति फिर से
है विकास पथ पर। वह कठिनाई से
सगठित हो सकी है। उसको तो भय है,
कोई अन्य जाति पुन शक्ति के प्रयोग से
उसको पराजित करे न कहीं देश में!

जानते हैं राजनीति भीष्म सूक्ष्म दृष्टि से।
कारण यही है, कृपाचार्य के होते हुए
द्रोण को नियुक्त किया, गुरु राजपुत्रों का
जिससे कि राजपुत्र अद्वितीय वीर हों।
अस्त्र शस्त्र से प्रभूत शक्ति से सपन्न हों।

जिससे कि कोई शत्रु उनको हरा न दे।
एक और बात है कि अन्य जातियों अभी
सगठित हैं नहीं। वे सगठित होंगी भी
इसमें सन्देह है। फिर यह भी स्पष्ट है,
भिन्न व्यवसायों में फँसी है अन्य जातियाँ।
केवल निषादों की ही एक ऐसी जाति है।
जो कि पूर्ण सगठित है रही सदैव ही,
बाण-विद्या में रही है दक्ष बिना श्रम के।
जिसकी परपरा है श्रुतियों में बोलती।

चाप बना कठ है, तो बाण हैं प्रशस्तियाँ।
आदि काल से निषाद जाति वीर जाति है।

साथ ही, हमारे पास नौका शक्ति भी तो है।
चाहे हम, जल मार्ग से बिना ही श्रम के,
दूर-दूर के निषाद-वीर एकत्र करें,
जिनको कि आर्यगण कहते अनार्य हैं।
जिनका कि देश तथा कण-कण भूमि है।
दूर दूर के निषाद वीर एकत्र करें,
और सगठित होके आक्रमण कर दें
आर्य पुर पट्टनों पर तो ये समाप्त हैं।
और यदि अद्वितीय बाण विद्या साथ हो,

एक क्षण भी न आर्य, सम्मुख अनार्यों के
ठहर सकेंगे। इस भाँति द्रोण शंकित
हैं विशेषरूप से, निषाद जाति से सदा।
सोचता नहीं है ऐसी बात कोई निषाद,
किन्तु भीष्म और द्रोण सोचते हैं नीति में।
कैसे कहूँ, आर्य द्रोणाचार्य तुझे प्रेम से,
देंगे धनुर्वेद जोकि सबको सुलभ है।
चाहे वह विप्र वर्ण हो या अन्य वर्ण हो।'
एकलव्य ने कहा कि

'मैं तो भक्ति-भाव से,
आर्य द्रोण से कहूँगा, दास मैं हूँ आपका।
केवल अनुराग से धनुर्वेद चाहता।
और मैं निषादराज श्री हिरण्यधनु का
पुत्र हूँ जो स्वामी हैं निषादों के, प्रवीर हैं।
जब पिता नाम श्री हिरण्यधनु वीर हैं
तो मैं लौह-धनु-वीर भी न बनूँ! सोचिए।'

पिता मुस्कुराए, ज्यों वारि बिन्दु गामी रश्मि
खींचती है इन्द्रधनु जल भरे मेघ में।
'शैशव से तेरी रुचि रही धनुर्वेद में,
और जानता भी है तू बातें धनुर्वेद की।'

बोले पिता—

'मैं भी सोचता रहा हूँ पूर्व से,
देख प्रतिभा अपूर्व बाण सचालन में।
इसकी कि ऐसा हो निपाद गुरु इसका,
जो इसे दे उच्च शिक्षा पूर्ण धनुर्वेद की।'

एकलव्य बोला—

'मैं तो आर्य गुरु द्रोण से,
बाण विद्या सीखूँगा। पिता श्री मेरा प्रण है।'
'तूने किया प्रण है, तो पूर्ण कर ले उसे।
प्रण, पूर्ति के लिए सदा ही किया जाता है।
किंतु मुझे आशा नहीं, आर्य द्रोण की दया
होगी कभी, तेरा प्रण पूर्ण होने के लिए।'
'मैं भी यही कहती थी—'

माँ ने ठडी सॉस ली।

एकलव्य ने कहा अतीव दृढ स्वर से—
'मैं तो प्रण पूर्ण करने का व्रत ले चुका।'
'सत्य!'

—पिता ने कहा—

'मैं व्रत से प्रसन्न हूँ।
कल हस्तिनापुर में कौशल कुमारों का,

द्रोण दिखलाना चाहते हैं, आर्य भीष्म को।
जनता निमंत्रित है। यदि तेरी इच्छा हो '
'मैं चलूँगा साथ'

—एकलव्य बोला शीघ्र ही
वाष्प-गद्‌गद-कंठ जैसे प्रथम वर्षा से
भूमि से निकलता है उष्ण गंध हलका।
पिता बोले—

'राजधानी में जो क्रीडा-भूमि है,
वहीं यह है विधान।'

'उसके अनन्तर
आर्य द्रोण से करूँगा प्रार्थना जो मेरी है।'
माँ ने साँस गहरी ली, बोली नत स्वर में—
'आर्य द्रोण ने न मानी बात, और जो कहीं
तुमको कुछ हो गया, तो मैं मर जाऊँगी।'
'कैसी बात कहती हो ? माँ। मैं आर्य द्रोण को
गुरु बना लूँगा और मेरे गुरु होंगे वे।
अर्थ और वाणी का ज्यों सहज संबंध है।'
'ऐसा ही ईश करें—तेरी पूर्ण कामना हो,'
बोले पिता—

'और फिर मैं तो साथ जाऊँगा।

भय किस बात का है ? चिन्ता सब दूर हो।
भोजन में आज कुछ हो गया विलम्ब है।
चलो अब।'

माता उठी, साथ एकलव्य के।
पिता उठे पाक-गृह-ओर चले चाव से।
माता सोचती रही—'न आवे सकट कहीं,
मेरे प्रिय लालन पर इस प्रस्ताव से।'

पंचम सर्ग

प्रदर्शन

पचम सर्ग



दिवस-सरोरुह की एक खुली पखुडी,
पद्मराग-जैसी रवि-कोर दिखी प्राची में।
जैसे एक पावन में अमोघ आशीर्वाद हो,
व्याप्त हो जो जग के स जग कण कण में।

फूल खिले मानो वे स हास खिले मुख हैं,
पढ़ते सुगधि के हैं छन्द अलि-कठ से।
झूम झूम उठती लता है, जैसे सुत के
सुन सु-चरित माता पुलकित होती है।

रवि-रश्मियाँ उठीं, ज्यों सूची-मुख तीर हों,
छूटने ही वाले हों, जो क्षितिज के चाप से।
मात्र-सधान में ही तिमिर-वेध हो गया,
प्रेरित हुआ है खग कलरव मत्र से।
पूर्व नभ में सुरम्य हेम मच पर है
बाल रवि, चारों ओर बादलों के पुज है।
सृष्टि का कुतूहल वे देखने को व्यग्र हैं,
स्थान भी बदलते हैं, स्पष्ट दृष्टि पाने का।

हस्तिनापुर में प्रभात की किरण आई,
दीख पड़ी पच शर तर्जनी सी उत्थिता,
राग मय जीवन का करती सकेत-सा,
जिससे कि कलिका भी फूल बन जाती है।

चारों ओर गति की लहर उठी कार्यों में,
मनोभाव जागे, जैसे कूजन विहग के।
गत दिन जैसे आज जीवन की ज्योति ले
जगमग दिवस बन आया है जग में।

जनों की विचित्र वस्त्रों में गतिशील रेखा,
जा रही है क्रीडा भूमि बिन्दु पर क्रमश।
पहुँच गन्तव्य पर फूट फैल जाती ज्यों,
अग्नि क्रीडा-बाण के स्फुलिंग बहु रग के।
नाना वस्त्र, नाना वेश, नाना स्वर-घोष हैं।
रूप और ध्वनि की खिची है चित्रकारी-सी।
क्रीड़ा भूमि पार्श्व की समस्त भूमि वृत्त में,
सज्जित है, रग रग वस्त्र धारी वृन्दों से।

आज धार्तराष्ट्रों और पाण्डवों की शिक्षा का,
होने को प्रदर्शन है, जनता के सामने।
ऐसी धृतराष्ट्र श्री जनेश्वर की आज्ञा है
भारद्वाज द्रोण के विशेष अनुरोध से।

धर्म वत्सल विदुर व्यवस्था में दक्ष थे।
उनकी अनुज्ञा से हुई भूमि समतल।
वृक्ष-हीन, गुल्म हीन, उत्तर में नम्र थी,
वारि अभिसिंचन से कोमल विशेष थी।

शुभ नक्षत्र में पवित्र वलि भूषित हो,
भूमि भाति भाँति के सु छन्न किए धारण,
राजमहिषी की भाँति राजती थी राग से,
स्वर्ण मंच मानो अलकार थे सुदेश में।
प्रेक्षागार चकित भुजग-सा पड़ा हुआ
चारों ओर। बीच म थी क्रीड़ा-भूमि मणि-सी
रेखा-पक्ति में अनेक जन नेत्र ये खुले,
देखने को अस्त्र शस्त्र कौशल कुमारों का।
शिल्पिया ने राज वर्ग और स्त्रियों के हेतु,
सुदर भवन थे बनाए बीच बीच में।
प्रेक्षागार के समीप जैसे शिल्प-शास्त्र ही
नर और नारी का विधान लिए बैठा है।

तूर्य नाद, जय-नाद, शख-नाद क्रम से,
शीतल सुगध मन्द वायु के समान थे।
क्रीडा भूमि हर्षित थी, नृप धृतराष्ट्र आए,
साथ भीष्म, कृप और सचिव अनेक थे।

महासती गांधारी और कुंती महाभागा,
दासियों समेत उच्च प्रेक्षागार कक्ष में।
आई जैसे विन्ध्य-शैल की उपत्यकाओं में,
वह ऊर्मि-मयी आई रेवा और तापती।

जन सिन्धु शान्त, एक वायु मन्दगामी था,
जिससे अलिन्दों पर रत्न माला झूलती।
स्थिर जन सिन्धु प्रतिबिम्बित हो डोलता,
और क्रीडा भूमि सरिता की भाँति बहती।

तूर्य-नाद। वाक् 'नम' की हुई विसर्जना,
अखिल दर्शक 'खिल' हो गए अवग्रह,
मस्तक झुकाए हुए नमित दिखे सभी,
वर्ण अविकार संधि हुई प्रजा-राजा में।
अवग्रह सा यज्ञोपवीत शुभ्र उर में,
धारण किए प्रविष्ट द्रोणाचार्य हो गए।
शुक्ल केश, शुक्ल श्मश्रु, शुक्लाम्बर शोभित था,
शुक्ल माला कंठ में। अहा! सुचारु रूप था!

मानो अंग-अंग ये निवास बने यश के,
देख जिन्हें नेत्र नई ज्योति देख लेते थे।
अश्वत्थामा अरुण वसन में सहास थे,
साथ द्रोणाचार्य के २ आए रंग स्थल में।



वह मध्य भूमि मानो अभ्रहीन नभ हो,
चन्द्रमा के पार्श्व में प्रदीप्त अंगारक हो।

प्रस्फुटित शब्द हुए आर्य द्रोण-मुख से,
'स्वस्तिरस्तु शाश्वती' फिर घोषणा-स्वर था:

'राजवर्ग! और जनपद के हे मानवो!
आपने उठाया कष्ट आज यहाँ आने का,

उससे कृतार्थ हूँ मैं आर्य-श्रेष्ठ भीष्म ने
कार्यमुझे सौंपा था, अत्यन्त श्रद्धा भाव से,
अस्त्र-शस्त्र विद्या मैंने जितनी आचार्य-श्री
भार्गव से पाई वह सब दूँ कुमारों को।
मैंने प्रेम और राज्य-सेवा-भरे भाव से,
वह दी कुमारों को, वे विद्या-विशारद हैं।
अस्त्र शस्त्र शिक्षा अब देखें राजपुत्रों की,
जिसका प्रदर्शन होगा आपके सामने।
महामात्य अपने जनेश्वर की आज्ञा से,
धर्म शास्त्र ज्ञाता श्री विदुर की व्यवस्था में।'

घोषणा के होते क्षिप्रगति से सु भृत्यों ने,
शस्त्रोपकरण उपस्थित किए शतश
और सब राजपुत्र आए रंग-शाला में;
जैसे वर्ण माला में प्रथम स्वर आते हैं।

बद्धांगुलि त्राण, नद्ध कवच, बद्ध तूण सभी,
शोभित थे ऐसे, जैसे दाड़िम के फूल हों।
उनके शरीर पर कवच कसा हुआ,
जैसे सद्धर्म पर आवरण हो नीति का।
अनुक्रम से ज्येष्ठ लघु ज्यों मुक्ता-माल में,
दाने ऊपर क्रमश छोटे गुहे जाते हैं
वैसे युधिष्ठिर से क्रमश लघु कुमार
रंग-भूमि में दिखाने शस्त्र शिक्षा आ गए।
नाना भाँति के विचित्र लक्ष्य सुस्थापित थे,
जिनका अदर्शन शर से अभिप्रेत था,
मानो प्रातिपदिकों और प्रत्ययों के मध्य
लोप होने वाले सभी इत् संज्ञक वर्ण हों।
दुंदुभि ने घोष किया, वीर द्रोणाचार्य ने
धनुष उठा के युग लक्ष्य युग बाणों से
वेध दिए साथ ही, वे बाण ऐसे थे चले,
मानो दो चरण थे वे मंगलाचरण के।

समारंभ। अश्वारूढ़ विविध कुमारों के
नामांकित बाण लक्ष्य-वेध करने लगे,
चारों ओर से अनेक शस्त्र वेगगामी थे,
अति गति वायु में विचित्र शब्द करती।

नाणों के त्रिकोण शत कोण बन जाते थे,
चक्र फैल जैसे अज्ञाचक्र बन जाता था।
दर्शक समाधि-मग्न कौतुक से स्तब्ध हो,
विस्मयोत्फुल्ल कह उठते थे—साधु साधु।
सञ्चरित होता हुआ सारी रंग भूमि में
राजपुत्र-दल कभी संयुत हो बढ़ता,
जैसे वीर रस का प्रवाह उठ जाता था,
जिसमें उत्साह वेग बन कर व्याप्त था।
यह दल नेत्र की कनीनिका सा दीखता,
जिस पर शस्त्र-जाल पलकों की भांति था।
एक क्षण में समस्त राजपुत्र दीखते,
अ यथा अदृश्य थे वे आवरण जाल में।

फिर गज पृष्ठ और अश्व पृष्ठारोहित,
कितने विचित्र शस्त्र कौशल कुमारों के
जनता ने देखे,'साधु। साधु।' शब्द कहते,
कौशल विचित्रता में मुख चित्र व्यक्त था।
रथ-चर्या और चर्म-खड्ग-युद्ध-प्रहार,
करते हुए वे लघु गुरु बन जाते थे,
होते संयुक्त पूर्व-लघु भी गुरु दीखता,
द्वन्द्व छन्द में समान नियमित सब थे।

लाघव, दृढ मुष्टि, शोभा, स्थिरता धन्य थी,
उनका प्रयोग योग धारणा से न्यस्त था,

गुरु - संकेत से वे सब समवेत हुए,
लौटे, जैसे चक्र पूर्ण होता है बिन्दु पर।

फिर शंख नाद हुआ, सब मौन हो गए,
उसके प्रतिध्वनि - प्रवाह में युधिष्ठिर
रंग भूमि में बढे, चढे हुए रथ पर
आ गए थे, धर्म जैसे बढता सु-राज में।
गुरु को प्रणाम किया, धनुष टंकार की,
और मंत्र पूत किए शस्त्र सब अपने।
धनुष चढाया जैसे चन्द्र हो द्वितीया का
और कितने ही दिव्य बाण छोड़े क्षण में,
जैसे अग्नि की विशाल रेख गति शील हो,
खींचती है वक्र चक्र-व्यूह अंतरिक्ष में।
शीश थे झुकाए कुछ दर्शक थे सामने,
श्रद्धा से या शर क्षेप-भय से, अज्ञात था।
षट् शर ऐसे भी संधान किए वेग से
घूमते रहे जो चारों ओर उस रथ के,
करता परिक्रमा ज्यों षट्पद फूल की,
और एक गूँज स्वर-भंगिमा में उठती।

फिर लिया तीक्ष्ण भाला तोल कर हाथ में,
फेंका लक्ष्य पर कि जैसे दृष्टि है दौड़ती।
लक्ष्य वेध ऐसा किया, लक्ष्य ही मिटा दिया,
जैसे 'पच शर' से विवेक मिट जाता है।

भीम को सकेत किया आर्य द्रोणाचार्य ने,
वे चले स हर्ष जैसे पीन ब्रह्मचर्य हो,
जन-ध्वनियों को वे बनाते हुए सीढ़ियाँ,
चढे रग मच पर मत्त झूमते हुए।
कर में उठाई गदा दौड़े इस वेग से,
जैसे एक पर्वत स पक्ष चला गति से,
फेंकी नभ में जो गदा चक्राकार घूमती,
दीख पड़ी उल्कापिंड जैसी प्रकाशमयी।
जैसे नीचे आई वह, हाथ में झूल गई,
भाग्य-रेखा स्थूल बन, कर से हो निकली।
और वह गुथ कर बन गई गदा ज्यों
पहले घुमाती रही, अब स्वय घूमती।

देख इस लाघव को आ गए सुयोधन
गदा लिए हाथ में वे दौड़े भीम गति से।
नभ गत भीम गदा देख तीव्र लक्ष्य ले
फेंकी गदा उस ओर तत्क्षण निमेष में।

महाशब्द हुआ गदा द्वय के संघात से,
फैल गया चारों ओर वज्र का निनाद सा,
नभ में उड़ीं अनेक लघु चिनगारियाँ
जैसे शब्द गति में साकार हुआ शतश।
दोनों ही गदाएँ नीचे ज्यों गतिशील हुईं
जैसे दो त्रिशंकु गिरते हैं सुर पुर से,
हाथ ही में रोक लिया दो अमित्र वीरों ने,
एक दूसरे की ओर झपटे गदा लिए।
जैसे ही प्रहार किया वीर सुयोधन ने
भीम ने निवारण किया उसे समीप हो,
जैसे कोई वस्तु सन्निकट आवे नेत्र के,
तो उसे विलोकने में दृष्टि व्यर्थ होती है।

'साधु! साधु!' बोला एक वर्ग तभी भीम ने,
शीघ्र ही गदा प्रहार किया अति रोष से।
वीर सुयोधन तभी गए घूम चक्र से,
और गदा शून्य वायु काट के रह गई!

'साधु!' बोला अन्य वर्ग। झपटे सुयोधन,
भीम ने गदा सँभाल ली कराल गति से।
दोनों के अनेक गदा कौशलों के बीच में,
जनता की वार्त्ता वार्त्तिक सी बन जाती थी।

सुयोधन और भीम 'विग्रह' में व्यस्त थे,
और जन सिन्धु था 'समास' द्वन्द्व रूप से।

शस्त्र की परीक्षा कहीं युद्ध बन आवे न
आर्य द्रोण ने किया संकेत अश्वत्थामा को।
आकर खड़े हुए वे दोनों ही के मध्य में
ज्यों दो अक्षरों के बीच चिह्न हो विसर्ग का।
संधि हुई, किन्तु दोनों के कुटिल चाप भ्रू,
वक्र दृष्टि शर से खिंचे हुए प्रलम्ब थे।
वीरों की उमंग बीच ही में अवरुद्ध थी,
जन कंठ-ध्वनि कंठ बीच ही समा गई,
किन्तु दृष्टि-वातायन मध्य झाँकते हुए,
उसने समेट लिया सारी रंग-भूमि को।

देखा—

द्रोण ने किया प्रवेश रंगांगण में,
मौन वादित्र हुए उनके पद चाप में।
स्तम्भ के समीप खड़े हो गए शार्दूल से,
गर्जना की—

'शान्त ! पुत्र से भी प्रियतर जो
है मुझे, जो शस्त्र विशारद अद्वितीय है,
इन्द्रपुत्र इन्द्रानुज-सम मेरा पार्थ है।

देखें आप । शस्त्र इसे पाकर कृतार्थ हैं,
जैसे मेघ माला सजती है नील व्योम में ।

घोषणा के साथ ही प्रविष्ट पार्थ हो गए,
जैसे अर्थ चलता है साथ-साथ शब्द के ।
बद्ध गोधांगुलि त्राण, पूर्ण तूण, कार्मुक,
सहित सचारियों के जैसे वीर रस हो ।

पार्थ ने प्रणाम किया, मस्तक झुका दिया,
जैसे वर्ण के समक्ष झुके मात्रा ह्रस्व की ।
पार्थ मयी ध्वनि उठी जनता के मुख से,
'यही कुन्ती पुत्र हैं', 'यही मध्य पाण्डव है,'
'यही इन्द्रपुत्र है', 'यही है कुरु-रक्षक,'
'यही अस्त्र वीर है', 'कल मुझसे मिले थे ये'
'कितने धर्मात्मा और कितने शीलवान!'

देख कौंतेय मुख माता कुन्ती प्रेममयी
प्रेम विह्वला बनी, दृगों से नीर निकला ।
'मेरा लाल!' एक लघु सांस में पिरो दिया,
दो दृगों में इन्द्र के सहस्र नेत्र पा लिए,
और अनिमेष देखा इन्द्र-दत्त पुत्र को ।
प्रज्ञ नरश्रेष्ठ धृतराष्ट्र ने विदुर से,
पूछा—

'यह कैसा शब्द, विदुर ! हुआ यहाँ !
जोकि चारों ओर से उठा है शत फण सा ?
विदुर समीप आके बोले—

' देव ! अर्जुन
आ रहे हैं कौशल प्रदर्शनार्थ सामने ।
सारी सभा स्वागत में हर्षित है हो रही ।'

नेत्र धृतराष्ट्र के प्रसन्नता की रेखा से,
अस्थिर हुए ज्यों झुके सम्पुटित फूल दो
झूम उठे दक्षिण पवन के प्रवाह से ।
हँस कर बोले—

'देवी कुन्ती भाग्यशीला हैं !
जिनका लिखा है भव्य भाग्य रेखा-त्रय में ।
इनमें अनूप रेखा अर्जुन की शक्ति है ।'

जन-रव नेत्र में समाया बन कौतुक,
अर्जुन पर दृष्टि हुई केन्द्रित सब की ।
जैसे स्वाति बिन्दु पर चातकों की दृष्टि हो,
या कि एक राग में स्वरों का सरगम हो ।
अर्जुन ने पुन प्रणाम किया जनता को,
फिर दृष्टि फिरी माता कुन्ती के मञ्च पर ।

चरणों में दृष्टि डाल मस्तक झुका दिया,
जैसे बीन तार पर झुक जाय तर्जनी,
अथवा क्षितिज पर नमित वियत् हो!

गुरु की कृपा से अस्त्र-विद्या बढ़ी स्मृति में,
दृष्टि लगी लक्ष्य पर ज्यों मृगेन्द्र दृष्टि हो।
भाग्य के समान खींच धनुष प्रत्यचा का,
बाण किया सज्जित प्रबल पुरुषार्थ सा।
मत्र की अखड दिव्य स्फूर्ति से ओंठ हिले,
और झुके स्कध जैसे इन्द्र-वज्र व्योम में।
छोडा बाण, गति की लकीर खिंची उज्ज्वला!
लक्ष्य बाण में ही बना चिह्न सा आश्चर्य का!
दूसरे ही क्षण में तिरोहित हुआ वही,
ज्यों अथर्व-मत्र से कुयोग मिट जाता है!

जनता का 'साधु!' स्वर सिन्धु उद्वेलित था,
अर्जुन ने फिर से प्रणाम किया गुरु को!
और अस्त्र के प्रयोग की प्रचड शक्ति से,
वे उमग पूर्ण बढे जैसे अस्त्र सिन्धु हों।

प्रखर आग्नेय से लगा दी आग व्योम में,
उल्का-पिण्ड वायु में ध्वजा की भाँति फहरे।
चक्र-गति लेके चलीं चड चिनगारियाँ

अग्नि कण व्याप्त हुए व्योम रोम-रोम में।
शीघ्र ही उन्होंने वारुणास्त्र सधान किया,
जल की फुहार उठी अग्नि अतराल में,
ज्यों हो सिंधु-वीचि व्यक्त, वाडव की ज्वाला में,
या पुनीत सीता सजी अग्नि की परीक्षा में।

अस्त्र वायव्य से प्रभजन किया प्रेरित,
जिसमें पवन उनचास बहने लगे।
रग शाला के समस्त वस्त्र अस्त व्यस्त हो
जैसे उडने का हुए, अर्जुन ने शीघ्र ही
अस्त्र रोका और
पार्जन्य के प्रसारण से,
नाना रग के अनेक घन घहरा दिए।
जैसे इन्द्र-धनु के अनेक खड सज्जित
हो रहे, दिगगनाओं के कवरि पाश में।
सारी रग-भूमि पर छाया पड़ी नभ की,
जैसे कण कण में प्रसारित वसन्त हो।
शीघ्र लिया अर्जुन ने भौम अस्त्र हाथ में,
भूमि में प्रविष्ट हुए एक क्षण मात्र में,
जैसे भूमि-गर्भ में प्रपात गिरे वेग से,
जैसे इन्द्र-वज्र भूमि में विलीन होता है।

पार्वतास्त्र से अनेक पर्वत बना दिए,
समतल भूमि उठी नभ स्पर्श करने।
ज्यों माँ भारती ने इस राम के कुमार को,
कवि का उदात्त यश हँस कर दे दिया।

अन्तर्धान-अस्त्र से हुए अदृश्य अर्जुन,
दर्शकों के नेत्र रहे चारों ओर खोजते।
फिर मृदु हास्य गूँजा और देखा सबने
अर्जुन झुकाए माथ सम्मुख खड़े हैं ये।
पुष्प-वर्षा होने लगी, रोमांचित हाथों से,
पार्थ पर दर्शकों का ओर से समन्तत।
छोड़े बाण पुष्पों पर लाघव से पार्थ ने,
एक पुष्प भी न गिरा शीश पर उनके।
सारी पुष्प वर्षा हुई आर्य द्रोणाचार्य के
पूज्य-श्री चरण पर। 'धन्य!' ध्वनि हो उठी।

हुआ तूर्य-नाद द्रोणाचार्य के सङ्केत से,
उत्सव समाप्त हुआ जसे वीर-पूजा हो।
जनता की वाणी बनी श्रद्धाञ्जलि पुष्पों की,
पार्थ द्रोण गाथा गूँजती थी मुख मुख में।

तूर्य जब बन्द हुआ, आर्य-श्री भीष्म उठे,
जन-सिंधु शान्त हुआ, छा गई निस्तब्धता।

आर्य - श्री ने सहज अभय हस्त मुद्रा में,
कहा —
'मेरे प्रिय जनो! यह शुभ उत्सव,
भूमिका है मातृभूमि रक्षा की भविष्य में,
इसका समस्त श्रेय है आचार्य द्रोण को,
जो कि अस्त्र शस्त्र-शास्त्र के प्रधान वेत्ता हैं।
युग-युग के लिए कृतार्थ कुरु वंश है।
अपने कुमार युद्ध विद्या में प्रवीण हैं,
चाहता हूँ शस्त्रों का प्रयोग हो सु रक्षा में,
आततायी रूप लेके राज्य नहीं चलते।
राज्य तो सदैव चलते हैं प्रजा-पूजा से।'
'जयजयकार' हुआ पितामह भीष्म का,
नृप धृतराष्ट्र और आर्य द्रोणाचार्य का।
सभा भंग हो गई। स-नरेश राजवंश
जाने लगा, निज निज वाहनों में हर्ष से।
प्रजा की सु रक्षा का विराट् स्वप्न सत्य था,
वह थी प्रसन्न, अब शंका किस बात की?
एक पार्थ है समर्थ देश-भर के लिए,
भय क्या है, साथ ये शताधिक कुमार हैं।
दासियों समेत माता कुंती हर्ष विह्वला,

अर्जुन की ओर चली, स्नेह अश्रु सिक्त हो।
सोचती थी—

'मेरा पुत्र! मेरा पुत्र अर्जुन!
रोक सका पुष्प वर्षा शीश पर अपने,
देखूँगी कि कैसे मेरी अश्रु-वर्षा रोकेगा।

दूसरी दिशा में नाना वेश, नाना देश के,
राजपुत्र द्रोणाचार्य-चरणों में नत थे।
जैसे चक्र नाभि से जुड़ी हुई अराएँ हैं,
या कि सूर्य से जुड़ी हैं अंशु अंशु शतश

उन्हीं दिव्य चरणों में दृष्टि एक बद्ध थी,
सम्मुख विनत एक साँवले कुमार की।
कौन जानता है! यह गूँज अविदित थी,
कितने सहस्र कंप लिए किसी तार की!

षष्ठ सर्ग

आत्म-निवेदन

षष्ठ सर्ग



'जय ! गुरुदेव जय !

एकलव्य दास हूँ।

है निषाद वंश मेरा, श्री हिरण्यधनु हैं
मेरे पिता। तृण के समान हूँ मैं मार्ग में,
जो पदों का भार बार-बार निज शीश ले,
बढ़ता है नवल हरीतिमा में मोद से।
एक ही चरण से खड़ा है जन्म काल से
अपनी तपस्या में। मैं एक ऐसा तृण हूँ।
आपके चरण से यदि मिट भी जाऊँगा,
तो बना सकूँगा, प्रभु! ऐसी पथ रेखा मैं
जिसे देख साधक चलेंगे गंतव्य पर।
धन्य भाग्य!

'कौन ?'

अंत के संयुक्त शब्द के—
घोष वर्ण ने जगा दिया प्रसुप्त कर्ण को।
बंद नेत्र पद्म भी प्रभात अभ्र-रेखा से,

उठ गए। आर्य-कंठ से उठी तभी गिरा—
'कौन ?'
'गुरुदेव ! जय ! एकलव्य शिष्य हूँ।'
'एकलव्य, ऐसा नहीं नाम किसी शिष्य का,'
'वर्ण हैं अलग, किन्तु जब मिल जाते हैं,
संधि में धवल और एक रूप पाते हैं।'
'एकलव्य शिष्य मेरा ?'
'देव ! मेघ नभ में
घूमता है चाहे जहाँ, विक्रमी शार्दूल-सा।
गर्जन से गूँजती गुहाएँ गिरि-गिरि की
धारासार से धरा को धो धो धन्य करता !
जीवन की मुक्ता-माल देता तृण-तृण को !
देव ! तृण जानता है मेघ की अमोघता,
नभचारी मेघ कैसे जाने भूमि तृण को !
मेघ की महानता में तृण अति छोटा है।
देव ! मुझे जानते नहीं हैं किन्तु देव की
दिव्य दीप्ति देखता रहा हूँ दृग द्वार में।'
'स्वस्ति एकलव्य ! तुम शिष्य होने आए हो ?'
'देव ! शिष्य तो हूँ मैं उसी दिन से आपका,
जिस दिन आपने कुमार का धनुष ले,

सीक-बाण से निकाली वीटिका थी कूप से।
वीटिका नहीं थी, वह मेरा ही हृदय था,
आपने निकाला जिसे मोह-तम कूप से।

देव द्रोणाचार्य के विशाल नेत्र स्थिर हो,
निर्निमेष देखने लगे उदात्त शिष्य को।
भाल जिसका था उठा, किन्तु नेत्र नत थे,
जैसे दिवसान्त पर नील पद्म पत्र हो।

'वत्स! शिष्य बनने की योग्यता है तुम में,
किन्तु धनुर्वेद की कठोर साधनाएँ हैं।
तीक्ष्ण बाण जैसी दिन रात की तपस्या है।
अग्नि शिखा सी अशान्त जीवन का गति है।
आचरण मार्ग सधा है कृपाण धार सा,
और भाग्य के समान लक्ष्य भी अदृष्ट है।'

'देव! दास उत्तर दे कैसे गुरुदेव को!
अर्पित हो कैसे एक पल्लव वसन्त को!
कैसे वीर रस को दूँ एक मयुक्त शब्द!
कृश हो कृशानु अनुरूप कैसे होऊँगा!
किंतु दास करता निवेदन है सत्य ही
रात बने लक्ष्य और दिन मेरा बाण हो!
जीवन के यज्ञ पर अग्नि का मुकुट हो!

प्राण के कृपाण पर आचरण पानी हो।
देव! धनुर्वेद को मैं दूँगा अर्घ्य स्वेद का,
दृष्टि एकमात्र लक्ष्य को ही पहचानेगी।
तर्जनी का भाव होगा केवल विशिख ही,
चलाचल लक्ष्य में ही पद गति पावेंगे।

सेवा मे समिध लाया हूँ मैं निज अस्थि की,
ब्रह्मचर्य साधना को स्तम्भ बना लूँगा मैं।
धन्वा के समान देव! पद में झुका हूँ मैं,
ग्रंथि-हीन धारणा ही, खिंचेगी प्रत्यंचा सी।

यदि लक्ष्य वेध में न सफल बनूँ मैं तो,
काट के समर्पित करूँगा करांगुष्ठ मैं।'

'काट के समर्पित करूँगा करांगुष्ठ मैं?'
'देव! श्री पद के प्रताप से ही साहस है।
चाहता क्षमा हूँ, किन्तु कहने की आज्ञा दें,
आत्म-बलिदान में अमोघ शक्ति होती है।
यह सत्य कैसे कहूँ देव! श्रेष्ठ जन तो
श्रेष्ठ ही हैं, किन्तु यह धृष्टता क्षमा करें,
आत्म त्याग में भी लघु सेवकों का भाग है।'
'संयमित वाणी रहे।'

'प्रभु! क्षमा, यह तो

लघुता का लघु-सा प्रमाण नम्र भाव से
व्यक्त करने की एक अल्प चेष्टा-मात्र थी।'
'नाम क्या बताया?'
'एकलव्य'
'एकलव्य, हाँ,
पिता कौन? वंश क्या है?'
'श्री हिरण्यधनु हैं
मेरे पिता और वंश है निषादराज का।'
'श्री हिरण्यधनु को मैं जानता दिनों से हूँ।
स्वामिभक्त, किंतु वे निषादराज ही तो हैं।'
'देव! हैं निषाद, किन्तु इसका विषाद क्या?
भाग्य का विधान तो विधाता की विभूति है।
पावन विभूतियाँ हैं मेघ घनश्याम हों,
या कि चन्द्रिका की चारुता में चैत्र चन्द्र हो।
चन्द्र से भले न मेघ मंडल की शोभा हो,
किंतु यदि मेघ खंड चन्द्र के समीप हो,
ज्ञात होगा शंभु-शैल में समाधिलीन है।'
'बाणों के समान वाणी का प्रयोग श्लाघ्य है।'
'प्रभु! चलाचल तथा लक्ष्यालक्ष्य द्रष्टा हैं।
क्षमा करें, मेरा नीति से प्रयुक्त बाण है,

किंतु बिना नीति की विनीत मेरी वाणी है।'

'एकलव्य! तुमसे प्रसन्न हूँ, किंतु वत्स!
एक बात पूछूँ? श्री निषाद राज-वंश में
होगी उपयोगिता क्या मेरे धनुर्वेद की?
मत्स्य-वेध के लिए क्या लक्ष्य बेध चाहिए?
इस निषाद-वंश में तो वंशी पर्याप्त है।

धनुर्वेद ब्राह्मणों को क्षत्रियों को चाहिए।
ब्राह्मणों की दृष्टि की दिशा में देखते हुए,
क्षत्रियों के लक्ष्य बिन्दु ऐसे मिट जाएँगे,
जैसे स्वर संधि में आदेश पर रूप हो।
धनुर्वेद नद जो है। उसके दो तट हैं—
ब्राह्मण और क्षत्रिय। इसी सीमा रेखा में

इसका प्रवाह होगा। अन्यथा, समझ लो,
बाढ़ में सुभूमि भी कुभूमि बन जाती है।
वैश्य और शूद्र क्या करेंगे धनुर्वेद ले?
वैश्य शब्द वेधी स्वर से क्या शस्य काटेंगे?
और शूद्र शस्त्र फूँक सेवा में लगेंगे क्या?

वत्स! मत स्वप्न देखो। ध्रुव नक्षत्र भी जो
उत्तर में अटल महत्तर है नभ में,
किन्तु वह रवि के समीप नहीं उगता।

छवि में सतुष्ट और जुष्ट है विवेक में।
और सुनो, सागर जो अगम अथाह है,
वहाँ जल जीव और मीन ही की गति है।
यदि गजराज चाहे उसमें प्रवेश हो,
तो क्या यह संभव है? निश्चित असंभव।

वत्स! धनुर्वेद एक सागर है, सिन्धु है,
मणि-रत्न उसके हैं डूबे गहराई में।
तुम हो अबोध साँस छोटी थाह लोगे क्या!
योग्य है तुम्हारे लिए मात्र सर-क्रीड़ा ही।
सर-क्रीडा, हाँ, हाँ, मिलती है शर क्रीडा से।
तुम हो निषाद पुत्र शर तो चलाते हो।
पक्षि शावकों के लघु पंख लघु बाणों से
वेधो और उनको गिरा लो कर-तल में।

भू-तल में दिग्विजय करता है क्षत्रिय,
उसके लिए तो भुज-दंड चंड चाहिए।
अस्थि खंड खंड-खंड कर दे नाराच जो,
उसका संधान धनुर्वेद का विधान है।
शर क्रीड़ा भिन्न है, श्री धनुर्वेद भिन्न है।'

'देव! शिक्षा आपकी यहीं से प्रारंभ हुई।
मैं कृतार्थ हो गया! जो सुना धनुर्वेद है,

अनुभव करता हूँ, धनुर्वेद मेरा है।
सीख लूँगा आपकी पुनीत वद-वाणी से।
मेरा तो निवेदन है, देव! क्षमा कीजिए,
पक्षि-शावकों के लघु पक्ष दीर्घ हो सकें,
इसके लिए तो प्रभु! करुणा का जल हो।
उनके लिए प्रयोग हो जो विष बाण का,
हिंस्र पशुओं के लिए किसका प्रयोग हो?

सोचता हूँ, अस्त्र विद्या रक्षण के हेतु है।
त्राण में सशक्त नाम उसका 'कृपाण' है।
वक्र का विनाश करे 'चक्र' नाम धारी है।
और दस्युओं के प्राण ले वही तो 'बाण' है।
नष्ट करे नीच को सदा 'गदा' वही तो है।

देव! शर-क्रीडा जानता हूँ शिशुपन से,
किंतु धनुर्वेद मेरे यौवन का व्रत है।
वृद्ध भी बनूँगा तो तपस्या धनुर्वेद की
करता रहूँगा, मृत्यु होगी शर तीर्थ में।
देव! धनुर्वेद से मैं सेवा भाव सीखूँगा।
आप गुरु होंगे, शिष्य मैं हूँ चिरकाल से।
वाणी आपकी है शंभु डमरु निनाद सी,
और मैं हूँ अन्त्य वर्ण सूत्र प्रत्याहार का।'

गुरु द्रोण चौंक उठे—' यह शिष्य कैसा है !
है तो शूद्र, किंतु जैसे निष्कलंक द्विज है।
बालक निषाद का है, किन्तु तेजोमय है,
जैसे मणि रत्न है विशाल विषधर का।

अन्य राजपुत्रों से विशेष श्रद्धावान् है,
जैसे यह अंकुर है प्रस्तर के पार्श्व में।
जो कि अश्म से भी रस खींचता है शक्ति से,
भासित है जैसे वह सीप में रजत हो।

पुत्र अश्वत्थामा ! तुम होगे क्या धनुर्धर !
इसके समक्ष जो कि उन्नत है गज-सा !
कैसे तुम बालक बनोगे अस्त्र शस्त्रों के ?
जब यह बालक स्वयं ही अस्त्र शस्त्र है।
जिसका मनोरथ ही रथ के समान है,
श्रद्धा सारथी की भाँति श्रम में ही बैठी है।
कामना-कोदण्ड और शील शिलीमुख है,
सत्य के समान सीधी प्रखर प्रत्यंचा है।

पार्थ ! मेरा स्वार्थ है कि मेरे अपमान का
लोगे प्रतिशोध तुम शीघ्र ही द्रुपद से।
इससे बनाना चाहता हूँ अग्रणी तुम्हें,
अस्त्र-शस्त्र कौशल में अजय पराक्रमी।

किंतु एकलव्य यह, वीरता का बीज है!
जिसमें सफलता प्रच्छन्न बनी बैठी है!
कैसे मैं सकूँगा रोक !'

' देव! चिन्ता-मग्न हैं!
कुछ अपराध क्या हुआ है इस दास से?
दास हूँ मैं, दोष का आधार तो रहेगा ही
मेरे अस्तित्व में। सदैव देव! क्षम्य मैं हूँ।
उच्च कुल का अभाव, किन्तु उच्च भाव है
प्रभु के चरण में। मैं उनकी शरण हूँ।'

' एकलव्य! धन्य होगा, इस पृथ्वी-तल में
वह आचार्य श्रेष्ठ, जिसके तुम शिष्य हो,
किंतु मेरे शिक्षण के वे ही अधिकारी हैं,
जो कि भूमि पुत्र नहीं, किन्तु भूमि पति हैं।
मृत्तिका के दीपकों का मोह शेष है नहीं,
जो कि उटजों में बुझते हैं एक फूँक से।
मैं सजा रहा हूँ मणि दीप राजगृह में,
जिनके समीप झंझा झाँक भी न सकता।

राजगुरु हूँ, विशेष पद की मर्यादा है।
शिक्षा-नीति राज नीति के पदों है चलती।
शारदा की वाणी यहाँ बोलती है स्वर्ण में।

'गुरुकुल' है कहाँ! यहाँ तो 'राजकुल' है!
जानता हूँ, मैंने दिया इसको ही प्रश्रय,
आते सभी राजपुत्र मेरे ज्ञानपीठ में।
किन्तु मैं स्वयं ही चला आया राजधानी में,
प्रेरित हुआ हूँ किस लक्ष्य से, मैं क्या कहूँ!

राजपुत्र हीनता को निश्चय प्राप्त होंगे,
जब तुम भूमि-पुत्र उनके समीप हो
एक पंक्ति में खड़े हो, लक्ष्य-वेध सीखोगे।
जाओ, हे निषाद पुत्र! तुम हो अस्वीकृत।'

'जैसी गुरु आज्ञा। एक क्षण के लिए न मैं,
इस राजकुल में रुकूँगा भूमि-पुत्र हो।
आप गुरु मेरे हैं, रहेंगे सब काल में,
हानि क्या! प्रत्यक्ष नहीं, मेरे मन में तो हैं।

नाम 'धनुर्वेद' सुना श्री-मुख से आपके,
और मुझे चाहिए क्या! साधना तो मेरी है।
चन्द्र की कलाएँ पूर्ण नभ के हृदय में,
चिन्ता क्या, जो रात मेरे जग की अँधेरी है।'

सप्तम सर्ग

धारणा

सप्तम सर्ग



'आओ, आओ, एकलव्य!
शिष्य आर्य द्रोण के!'

'साधक महान्!
समकक्ष क्षत्रियों के हैं!'
'इनको 'निषाद राज-पुत्र' मत कहना,
'आर्य द्रोण शिष्य' नाम आज से है इनका!'

'अन्य किसी को न प्राप्त ऐसा ही गौरव हो
अत ये अकेले ही चले गए प्रभात में,
खोजते रहे इन्हें यहाँ हम शिविर में।
कितनी प्रतीक्षा की है, तब आर्य आए हैं!
स्वागत! यशस्वी शिष्य राजगुरु द्रोण के!'

'आज हस्तिनापुर में—ऐसा ज्ञात होता है—
वीरता का सूर्य पहली ही बार चमका!
सारे राजपुत्र आज लज्जित विनीत हो,
आए होंगे इन शिष्य राज की शरण में।

आर्य गुरु द्रोण ने भी आगे बढ़ प्रेम से ,
अंक से लगाया होगा जैसे शुभ्र सर ने
अंक में निवास दिया प्रेम-पूर्ण पंक को।'
' प्रेम-पूर्ण पंक को ?'

' हाँ , प्रेम पूर्ण ही तो है !
अपने समस्त कण जोड़ कर प्रेम से ,
कोमल बनी हुई धरातल में लीन है।
किन्तु तुम देखना किसी दिन कि पंक से ,
पंकज प्रकट होगा पूर्ण पुण्य पर्व में
रत्न किरीट जैसा होगा सर शीश पर।'

' सत्य। आर्य गुरु भी कृतार्थ हुए समझो ,
पार्थ से भी अधिक परार्थ शिष्य देख के ,
गोद में प्रमोद से बिठाया होगा इनको ,
मंत्र के सहारे श्रुति-यंत्र ठीक करके ,
छेद दिया होगा धनुर्वेद इन कानों में।'
' बोलते नहीं हो, क्या तुम्हारा मंत्र गूढ़ है ?
गुरु ने क्या मौन रहने का मंत्र है दिया ?
कितने दिनों का मौन धार कर आये हो ?

अच्छा, कुछ बोलो मत, केवल यही कहो
तुम धनुर्वेद में या धनुर्वेद तुम में ?'

'शान्त ! परिहास न हो मेरे पूज्य गुरु का।
और अपमान न हो धनुर्वेद-शक्ति का।
मेरा व्रत मेरे ही समीप है, न उसमें
योग चाहता हूँ मैं किसी भी अन्य व्यक्ति का।

जानते नहीं हो, तुम गुरु की विशेषता,
फिर क्यों प्रलाप करते हो गुरु-भक्ति का ?
जोकि घुलता है भूमि पर हिम-खण्ड सा
अनुमान उसको क्या होगा वज्र-शक्ति का !

जिसको न संयम है वाणी के प्रयोग में,
उसको क्या ध्यान होगा अति और न्यून का ?
व्योम झकझोरता मरुत् चलता है जो,
वह क्या रखेगा ध्यान पल्लव प्रसून का !

तुम सब मेरे प्रिय साथ के सुबन्धु हो,
मेरी भावनाओं में तुम्हारा बड़ा भाग है,
किन्तु परिहास के विवादी स्वरालाप से,
विकृत न होगा, उठा उर में जो राग है।

दर्शन किए हैं मैंने आज पुण्य पर्व में,
उस महा मानव के जो कि शक्ति स्रोत है।
मेरी देह की शिराएँ हो गई सरक्त हैं,
जिनमें उमंग और ओज ओत प्रोत है।

धनुर्वेद के पवित्र शब्द सुने गुरु से,
जानते हो, कितने उत्साह भरे प्राण हैं?
धारणा से, ध्यान से, शरीर बना धनु है,
और रोम-रोम ही सधान हुए बाण हैं।

गुरु ने जो शिक्षा दी, क्या वक्तृता-विलास है?
अर्थ-अणिमा में शब्द गरिमा को भाग दूँ?
जो कपूर की सुगंधि रक्षित है राग से,
वाणी की विदग्धता से उसको क्या आग दूँ?

मेरा व्रत अपनी दिशा में गतिशील है,
गुरु की सहज शक्ति उसके समीप है।
तम से घिरा हो नभ, किंतु शून्य मार्ग में,
एक-एक तारा उसे एक-एक दीप है।

हस्तिनापुरी में एक राजकुल पूरा है,
शिक्षा वहाँ केवल प्रदर्शन की दासी है।
द्वंद्व प्रतिद्वन्द्विता की लंबी मरु-भूमि है,
साधना की प्यास मृग-जल में ही प्यासी है।
और आर्य द्रोण वहाँ केवल आचार्य हैं,
गुरु नहीं, आसन के स्थान पर मंच है।
श्रेय की दिशा में राजपुत्र प्रेय सीखते,
ध्येय लक्ष्य-वेध में अजेय शर-पंच है।

हस्तिनापुरी में नहीं, मानसपुरी में ही
अनुभव हो रहा कि एक गुरुकुल है।
मृण्मय शरीर के कणों में एक मूर्ति है,
गुरु द्रोण की, स्वरूप सूक्ष्म है, पृथुल है।

क्यों है, यह कैसे है, मैं जान नहीं सकता,
जानता हूँ, ज्योति एक जागी रोम रोम में।
जैसे वायु की तरग जहाँ जिस ओर हो,
अंत में रहेगी सदा वर्तमान व्योम में।

साधना का क्षेत्र कैसे होगा राजकुल में?
गुरुकुल प्रेम से बुलाता जब मेरा है।
पृथ्वी के समान मेरी गति प्रति क्षण है,
क्षितिज की भाँति मेरी साधना का घेरा है।

तोड़ कौन इसको सकेगा किसी काल में!
चाहे वज्र का प्रहार हो कि घन-वृष्टि हो।
यह तो सदैव राग-रजित रहेगी ही,
सूर्य के समान जब गुरु की सुदृष्टि हो।'

डूब गया एकलव्य गुरु-मूर्ति ध्यान में,
नेत्र बन्द हो गए, दो नीलोत्पल नत थे।
यों श्रद्धा-भावना से हो गए समर्पित,
मानस में अंकित श्री गुरु पाद-पद्मों में।

एकलव्य के सखा जो सम्मुख खड़े हुए,
करते परिहास थे विकृत मुख-मुद्रा में,
हो गए विवर्ण एकलव्य के सुघोष से,
जैसे वे 'कुहोरचु' बने लिट के अभ्यास में।
पारावत जैसा हास उड़ गया क्षण में,
जाने किस ओर गया मौन गहराई में,
चारों ओर थीं दिशाएँ शान्त गंभीर मानो
पूछती थीं प्रश्न, यह कैसा परिहास था!

मौन सखा मंडली ज्यों अन्न-हीन बालें हों,
रेत में उगी सी, पीत वर्ण अंग अंग में।
उनमें विचित्र सी निराशा भय ग्रस्त थी,
होंगे भूमि लुण्ठित वे जाने किस क्षण में।

जाने लगे साथी सब एक-एक करके,
जैसे वीतराग में विषय छूट जाते हैं।

नागदत्त बोला तब साहस-दण्ड टेक,
'एकलव्य! चाहते क्षमा हैं हम तुमसे।
जानते नहीं थे तुम इस भक्ति-भार से,
पूज्य गुरु आश्रम से लौट कर आओगे।

हमने कही जो बात वह लक्ष्य भ्रष्ट थी,
सामने तुम्हारे, जो कि पूर्ण लक्ष्य द्रष्टा हो,

मान लेना , कौतुक है यह बाल-क्रीड़ा का ,
पश्चिम का लक्ष्य है , चलाते बाण पूर्व में ।

किन्तु हम जान भी सके हैं नहीं तुम से ,
हस्तिनापुरी को यदि छोड़ने की बात है ,
कैसे शिक्षा पा सकोगे आर्य गुरु द्रोण से ?
जो कि सब काल हस्तिनापुरी के वासी हैं ।

और यह गुरुकुल कहाँ, किस ओर है ,
जो तुम्हें आग्रह से प्रति क्षण बुलाता है ?
उस गुरुकुल में क्या द्रोण ही आचार्य हैं ?
और उस साधना का रूप किस भाँति है ? '

' पूछो मत, नागदत्त ! साधना का बीज जो ,
भाग्योपल - अंक की कठोर संधि बीच है ।
धूप का प्रखर भानु रश्मि सींचने को है ,
जीवन की सेविका के रूप में ही मीच है ।

शिशिर के पीले पत्र सूखने के पूर्व ही ,
देना चाहते हैं ' रूप-रंग ' ' ऋतुराज ' को ,
एक ' ध्रुवतारिका ' में ' कौमुदी महोत्सव ' ,
चाहती ' रजत-रश्मि ', देखो इस साज को ।

मेरा मित्र कौन है, मैं क्या कहूं नागदत्त !
साधना ही जीवन में मेरी ' चारुमित्रा ' है ।

'रिमझिम' - विन्दु में न 'इन्द्रधनु' देखना,
रक्त विन्दु में ही 'सप्तकिरण' विचित्रा है !
सूर्य - 'दीप दान' उषा करती है पूर्व में,
जो कि नभ सिन्धु तक दृष्टिगत होता है।
मेरे प्राण दीप की 'विभूति' यही वह तो,
तम के हृदय-बीच ज्योति-बीज बोता है।
'अंजलि' में मेरी 'रूप-राशि' मत देखना,
ऐसी 'चित्ररेखा' खिची जीवन में नप की।
मेरी 'चन्द्रकिरण' में कहाँ 'आकाश गंगा',
साँस में समाई शक्ति विद्युत्-तड़प की!'
'जानता हूँ एकलव्य!' नागदत्त ने कहा—
'तुममें अजेय शक्ति का अनन्त स्रोत है।
कौन सी दिशा जहाँ प्रवाह होगा इसका,
दूर देश में कि किसी दूर जनपद में?
साथ मैं चलूँगा, एकलव्य! देख लूँगा मैं।
कैसी साधना में तुम लीन होना चाहते।
कैसे गुरु द्रोण चुपचाप चले आएँगे
देने धनुर्वेद शिक्षा निज प्रिय शिष्य को?
सेवा मैं करूँगा गुरु कुल में सुनेम से,
मैं मुख तूणीर का भरूँगा शिलीमुख से।

और प्रत्यंचा खींच, कोटि में कसूँगा नित्य,
लक्ष्य-भेद के लिए अनेक चिन्ह खींचूँगा।

कंद-मूल संचित करूँगा भाँति भाँति के,
जिनसे रहेगी भूख मास दिन वश में,
निर्झर-नीर इस भाँति से समीप होगा,
जैसे शम्भु-शीश पर शुभ्र गंगा धार है।

साधना के मार्ग पर मेरी भी प्रगति हो,
सीख लूँगा मैं भी साथ-साथ रहते हुए।
गुरु का प्रसाद कुछ मुझको भी प्राप्त हो,
बोलो, एकलव्य! मुझे साथ ले चलोगे क्या?'

'साधु, नागदन्त! तुम बन्धु हो, प्रवीण हो,
साथ रहोगे तो देह कष्ट कट जाएँगे।
किंतु जब देह की न चिन्ता चाहता हूँ मैं,
जो अभाव होंगे, क्या न आप घट जाएँगे?

सुख का विश्वास जिसे जीवन में होता है,
जान लो कि वह सुख से ही छला जाता है।
साथ में भले ही पिता, माता, बन्धु, मित्र हों,
साधना का मार्ग निज पैरों चला जाता है।

जाऊँगा कहाँ मैं, यह कैसे कहूँ आज मैं,
जाना है, अवश्य चुपचाप मुझे जाने दो।

विषम प्रभञ्जनों ने जो स्वर भुलाए हैं,
साँसों से उन्हें ही मुझे आज दुहराने दो।

गुरु द्रोण हैं यहाँ, मैं जा रहा सुदूर हूँ,
पाऊँगा उन्हें अवश्य, चाहे रहूँ क्षुद्र मैं,
विविध दिशाओं में प्रवाह ये बहें न क्यों,
किन्तु एक होंगे सभी जाकर समुद्र में।

मेरे गुरु विप्र और शूद्र मैं निषाद हूँ,
किंतु गुरु-वाणी ही अमोघ अभिषेक है।
ऊपर और नीचे क्या ओष्ठ भी नहीं हैं दो?
किन्तु जो निकलती है वाणी, वह एक है।

चिन्ता हीन की न कभी चिन्ता तुम करना,
करुणा की कामना न कोई मेरे प्रति दे,
आँख जब खुलती है तो क्या दृष्टि अन्य का
चाहती सहारा है कि कोई उसे गति दे?

मानता समर्थ हूँ उसे जो एक बार भी,
गुरु दृष्टि के समक्ष श्रद्धा-युक्त आ गया,
सत्य देखा जिसने है कैसे वह भ्रांति में,
हो सकेगा भूल कर यन्त्रारूढ मायया!

इसलिए मैं ले रहा हूँ तुमसे भी विदा,
जाऊँगा वहाँ कि जहाँ सिद्धि पड़ी सोती है।

उसको जगाऊँगा, कहूँगा मेरे योग में,
केवल दिवस ही है, रात नहीं होती है।

कैसे अब जाऊँ गृह, साधना के क्षेत्र से?
माया-मोह बन्धन है स्वजनों के स्नेह में।
साधना का क्षेत्र यदि इसको बना न लूँ,
तो क्या है गौरव इस मानव की देह में?

पूज्य पिता आए नहीं, देर हुई जाती है,
व्यस्त होंगे कार्य-भार से वे राज-द्वार में।
चाहता था उनकी चरण धूलि मिलती,
पद्म की पराग है, जो कामना के हार में।

करता प्रणाम हूँ मैं उनकी श्री-सेवा में,
और चाहता हूँ, मेरी चिन्ता से रहित हों।
अपने यशस्व की प्रतिज्ञा इन्द्रवज्रा-सी,
सुन कर सदैव शार्दूल-विक्रीड़ित हों।

मेरी खोज की न कभी चिन्ता करें क्षण भी,
समझे, समीप हूँ उन्हीं की भावनाओं में
पल्लव भले ही मूल से हो दूर वृत में,
किन्तु मूल का है रस उसकी शिराओं में।

और मेरी माता जब जल-भरे नैनों से,
नाम ले पुकारें मुझे, तुम यही कहना—

एकलव्य को न कोई दुःख लेश मात्र है,
रोकना सदा ही लोचनों से अश्रु-बहना।
कहना कि 'वीरपुत्र की हो तुम जननी,
अंकुर तो धूप छाँह में ही बड़ा होता है।
गोद में नहीं, माँ! भूमि पर गिर-गिर के,
अपने ही पैरों पर पुत्र खड़ा होता है।
धनुर्वेद सीख कर जब पुत्र आएगा,
पहले लक्ष्य बेधेगा तुम्हारे ही दुःख का।
लक्ष-लक्ष वीरों में प्रतापी पुत्र देखोगी,
चुम्बन क्या लोगी नहीं ऐसे पुत्र-मुख का?'
इसी भाँति देना तुम जननी को सान्त्वना,
मेरा दुःख भूलेंगी तो सिद्धि शीघ्र पाऊँगा।
अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण शीघ्र ही करूँगा मैं,
तुम सबसे मिलने शीघ्र चला आऊँगा।
जाता हूँ, विलम्ब अब होता है, नागदन्त!
शंका तुम्हें हो न कभी किसी अवरेब की।
सबसे प्रणाम एक बार फिर कहना,
साधना में बढ़ता हूँ, जय गुरुदेव की।'
'रुक जाओ एकलव्य!'—नागदत्त ने कहा—
'जाना जब समय तुम्हारे अनुकूल हो।'

एकलव्य आगे बढ़ा, दूर गया मार्ग में,
दीख पड़ा जैसे दीर्घ वृन्त पर फूल हो।

अष्टम सर्ग

ममता

अष्टम सर्ग

•

१

मेरा लाल न अब तक आया !
मार्ग देख कर थकी, न कोई उसका कुशल सँदेशा लाया ॥
कुछ दिन में ही आवेगा,
ऐसा सबने मुझको समझाया।
पर सूने दिन कहते हैं,
मेरे कुमार ने मुझे भुलाया ॥
इसी जगह पर मैंने कितनी बार
गोद में उसे खिलाया !
अर्ध-रात्रि में उसे सुलाने,
अलसाए अलसाए गाया ॥
आज वही सुधि आ जाती है,
छा जाती है सुख की छाया।
अपनी मा को छोड़ हाय !
मैं क्या जानूँ, किसको अपनाया !

कभी-कभी ऐसा लगता है,
वह आया, कुछ कह मुस्काया।
चौंक, उसे जब लगी देखने,
सूनापन सब ओर समाया।

२

मेरे सुन्दर से प्रिय छौने।
खोज रही हूँ आज तुझे मैं,
सूने घर के कोने-कोने।
कहाँ गई चाँदी रातों की,
कहाँ गए वे दिन के सोने।
मैं जीवित रह गई न जाने,
इस जीवन में क्या क्या खोने।
फिर ये आँसू बहे, शेष क्या
रहा इन्हें इस तन में धोने?
हे प्रभु! हाय, किसी माता के,
दिन भी थे क्या ऐसे होने?
कितने दिन हो गए, बिछाये
नहीं लाल के लिए बिछौने।
जीवन के सुख मुझे सलोने,
लाल बिना लग रहे अलोने॥

२

मैं भी साथ तुम्हारे जाती।
उषा-काल में तुम्हें उठाने,
मधुर प्रभाती गाती॥
तुम उठते करते प्रणाम,
मैं उर से तुम्हें लगाती।
ऐसी आशिस् देती जो
कहते ही सच हो आती॥
धनुष-बाण हाथों में देती,
यह तुमको समझाती।
उसे मारना मत, जिसको माँ
प्रतिदिन गोद खिलाती॥
जब तुम थक कर कुटी लौटते,
भोजन तुम्हें कराती।
तुम्हें हँसाती हुई, गोद में
लेकर तुम्हें सुलाती॥
सौ सौ कष्टों की बातों पर
एक हँसी बरसाती।
ज्ञान सीखते इसी भाँति तुम,
मैं समीप सुख पाती॥

४

सुना कि तुम रजनी भर जागे।
जब प्रात तुमको जाना था,
अपने गुरु के आगे।
शिशुपन से मैंने देखा,
तुम ऐसे कभी न भागे।
क्या आता है ज्ञान उसी को,
जो निज जननी त्यागे?
कुशल कामना में मैंने,
प्रभु से कितने वर माँगे!
किन्तु आज भी सिसक रहे हैं,
मेरे प्राण अभागे॥

५

यदि तुमको जाना था वन में।
तो तुम कह देते पहले ही,
रखे रहे क्यों मन में?
वन के बीच कुटी बन जाती,
तरु की छाँह सघन में।
भाँति-भाँति के फूल फूलते,
शीतल मन्द पवन में॥

बस जाता सारा बिखरा वन,
छोटे - से उपवन में।
खिच कर स्वयं सिद्धि आ जाती,
सहज तुम्हारे तन में॥
मन-भर रहते, मैं न रोकती,
बरस बीतते छन में।
मेरे अंचल में तुम रहते
जैसे चन्द्र गगन में॥

६

यह छोटा सा धनुष तुम्हारा।
इसने तीखा विरह-बाण क्यों
मेरे मन में मारा?
आज बह रही है आँखों से
जब आँसू की धारा।
तब उसमें क्यों काँप रहा है,
मेरे सुख का तारा?
इसी तरह क्या बीतेगा,
यह जर्जर जीवन सारा?
चुभता बन कर शूल वही
जो था प्रिय फूल हमारा।

मार बन गया वही आज क्यों,
जो था कभी सहारा?
मेरा स्नेह दहकता रहता
है बन कर अंगारा।
जितना बढती हूँ उतना ही,
होता दूर किनारा।
अरे, सुना क्या, मुझे लाल ने
हँस कर अभी पुकारा?

७

घर में आज न आया कोई।
हाय! तुम्हारे सभी साथियों
की भी ममता खोई।
कहलाया तुमने सदेशा,
सुन कर सब दिन रोई।
तब से अब तक पल भर को भी
नहीं चैन से सोई॥
किसने मेरे जीवन में यह,
विषम वेदना बोई?
तुम्हें देखने को नयनों की,
यह आरती सँजोई॥

८

आशा है, जब तुम आओगे।
लक्ष्य वेध जिससे सीखा है,
वही बाण लाओगे॥
जो उलझन जीवन में आई,
क्या वह सुलझाओगे?
उसको लक्ष्य बना कर क्या तुम
बाण चला पाओगे?
जो दुख मैं सह चुकी उन्हें,
कैसे सुख कहलाओगे?
गई बात का गीत बना कर
कैसे तुम गाओगे?
वर्तमान में यदि भविष्य का,
बाण वेध जाओगे।
तभी लाल! तुम दक्ष धनुर्धर
जग में कहलाओगे॥

९

मैंने देखा स्वप्न सजीला।
एक भयानक वन है जिसके
बीच उठा है टीला॥

तू बैठा है उसके ऊपर,
पहने वल्कल पीला।
धनुष खिंचा है, उस पर साधा,
अपना बाण नुकीला॥
सम्मुख लक्ष्य बना है जिस पर,
कुहरा नीला नीला।
मैं भी पास खड़ी हूँ लेकर,
अपना यह तन ढीला॥
तुझे पुकारूँ किन्तु न सुनता,
तू है बड़ा हठीला।
आँख खुली तो मैंने पाया,
अपना अंचल गीला॥

१०

बहता है यमुना का प्रवाह।
उसको क्या चिन्ता है जो मैं
यों बार बार ले रही आह।
इसके होगा क्या पुत्र कि जिससे,
होता रहता हृदय-दाह?
फिर कैसे निकलेगी इससे,
मेरे उर-जैसी दुख कराह?

केवल पहने को छोड़ और क्या,
इसके मन में रही चाह?
क्या मुझसे गहरी ले पाएगी,
यह जीवन की कभी थाह?

??

हो गए, पशु पक्षी असहाय!
हिंस्र जीव उनको खा जाते,
पाकर अवसर, हाय!
एकलव्य जब था तब करता
रहता यही उपाय।
निर्बल प्राणी को न कभी,
कोई बलवान सताय॥
धनुष-बाण हाथों में लेने
का था यह अभिप्राय।
जिससे वन में विचर सकें
लघु जीवों के समुदाय॥
एकलव्य अब चला गया,
हो गए सभी मृत-प्राय!
इन सब की रक्षा करने के
लिए कौन अब जाय!

प्यारे जीव-जन्तु ! तुम सह लो
कुछ दिन यह अन्याय।
लौटे मेरा लाल, तुम्हारा
सब सुख लौटा लाय॥

१२

कितना भीषण है ग्रीष्मकाल !
जैसे मेरे सुत का वियोग,
छाया है जग में बन कराल॥
आतप की ऊष्मा से सूखी,
मेरे उपवन की डाल - डाल।
ये लू के झोंके चले, उठाए
फण जैसे डस रहे व्याल॥
मेरे ही भाग्य लेख - सा उलझा,
सूखा - सा है लता - जाल।
मेरे अन्तस्तल - सा जलता है,
पृथ्वी - तल का अन्तराल॥
हे तीक्ष्ण रश्मियो ! वहाँ न तपना
जहाँ कि मेरा गया लाल।
वह चन्द्र - किरण - सा है कोमल,
छोटे वय वाला एक बाल॥

१३

कर रही वर्षा क्यों उत्पात ?
टूट - टूट कर गिरे,
लता के कितने कोमल पात !
बड़े वेग से चला प्रभंजन,
होता वज्र - निपात !
घुमड़ - घुमड़ घनघोर घटाएँ,
घिरती हैं दिन रात ॥
ओ वर्षा ! यदि चपलताएँ
कम हुई तुझे हो ज्ञात !
मेरा लाल तुझे दे देगा,
कुछ शर के सघात ॥
मैं बैठी हूँ, यहाँ सोचती,
कठिन भाग्य की बात !
देख, भिगोना मत अपनी
बूँदों से सुत का गात ॥

१४

आया शरद प्रकृति का मीत ।
वर्षा के मन्थन से निकला,
जैसे यह नवनीत ॥

जल धारा से धुल कर जैसे,
नभ हो गया पुनीत।
लहरों की गति में गाता है,
मन्द समीरण गीत॥
स्वागत तेरा करती हूँ मैं,
तू मत हो भयभीत।
रोजन सा आवे मेरा सुत
तब हो स-मुद व्यतीत॥

१५

हा! हेमन्त न मैं कुछ लूँगी।
प्यारा लाल तपस्या में है
मैं भी अग्नि तपूँगी॥
मैं यों ही गल चुकी, पवन से
अब क्या और गलूँगी।
मेरा भाग्य भरा हिम कण में
कहाँ नहीं भटकूँगी?
लम्बी रातों के बिखरे
तारों में दृष्टि भरूँगी।
अगरु-धूम में उड़ा हृदय को,
सुत की खोज करूँगी॥

कस्तूरी की भाँति लाल के
लिए विजन विचरूँगी।
हे अनन्त हेमन्त ! आज मैं
तेरा अन्त करूँगी॥

१६

शिशिर ! तू मुझे न अब झकझोर।
सुख के जितने पल्लव थे वे,
बिखरे इस उस ओर॥
बोल नहीं पाती हूँ, वाणी,
है अति शीत - विभोर।
अच्छा हुआ कि शून्य हो रहा,
मेरा हृदय कठोर॥
घिरा घना नीहार आति का,
छिपी गगन की कोर।
बन कर बाष्प उडी जाती है,
मेरी प्रेम हिलोर॥
रवि को भले छिपा ले तू, पर
सुख का होगा भोर।
गिरि के पीछे उगने को है,
मेरा बाल किशोर।

१७

दिन आए ऋतुराज के।
समझ रही हूँ, कल न रहेंगे,
फूल खिले जो आज के॥
मेरा लाल ब्रह्मचारी बन,
गया पास गिरि-राज के।
कोकिल! बतला, बोल सकेगा
क्या तू मारे लाज के॥
किया भस्म शंकर ने मनसिज,
साथ समस्त समाज के।
भस्म न कर दे लाल तुझे
आश्रम के बीच विराज के॥
मैं कहती हूँ, बड़ी विनय से,
बिना किसी भी व्याज के।
तू अशोक बन करे तपस्या
बिना विषम शर-साज के॥

१८

अभिलाषा मेरे मन जागी।
मेरा अनुरागी कुमार,
कैसे बन गया विरागी!

उसने मुझ से कभी मचल कर,
वस्तु न कोई माँगी।
इसीलिए तो अपनी माँ को
त्याग, बन गया त्यागी॥
जननी हो, उसके कष्टों में
बन न सकी सह-भागी।
मेरा स्वर तो भैरव था,
कैसे बन गया विहागी?
पुत्र भले ही निष्ठुर हो पर,
मा तो है अनुरागी।
हाय! लाल को विदा
न दे पाई मैं जननि अभागी!

१६

चिन्ता है मुझको यह केवल।
बिना लाल के कब तक सूना,
पड़ा रहेगा अचल!
खाने को फल मूल और
पीने को निर्झर का जल!
शैया पर कुश काश और
तन पर जर्जर-सा वल्कल!!

मेरा लाल वयस्क हुआ,
आया उसमें अनुपम बल।
यह सब क्या इसलिए कि वह
वन जाने को हो चचल?
यहाँ रह गया माँ का अचल
और स्नेह का शतदल।
केवल उसके पास रहा
एकान्त और पृथ्वीतल॥
मैं माता का हृदय लिए
असहाय और अति अकुशल!
केवल कुशल कामना करती,
लाल! तुम्हारी प्रति पल॥

२०

स्मरण आए वे कोमल बोल।
जो तुम कहते थे मुझसे,
मन के सब बन्धन खोल॥
'माँ! मुझसे क्या कहने आता,
यह जल का कल्लोल?'
मैं कहती थी, 'लाल! पूछता
है यह तेरा मोल॥'

बिना मोल ही चला गया तू ,
मैं रह गई अ-बोल !
रह-रह कर परिहास कर रही ,
यह लघु लहरी लोल !!

२१

गुण कथन ही तो मेरा गान है ।
माता का उपमेय हृदय
बन रहा आज उपमान है !!
लाल ! तुम्हारी कठिन तपस्या
ही मेरा अभिमान है ।
फिर रह-रह क्यों कष्ट दे रहा ,
अपनेपन का ज्ञान है ?
जहाँ गूँथते थे मालाएँ ,
वह सूना उद्यान है ।
चले गए तुम किन्तु तुम्हारे
आसन की पहचान है ।।
हँसने तुम कैसे लगते
थे, आता जब यह ध्यान है ।
तभी लाल आँखों में भर
उठता सिन्धु महान् है ।।

२२

क्यों उद्वेग हृदय में आया ?
गीत न अच्छा लगता है जो ,
दो क्षण पहले मैंने गाया ॥
यह प्रभात की किरण सुनहली ,
जिसने रज कण-कण चमकाया ।
मेरे मन के भीतर जा कर ,
डाल रही क्यों तम की छाया ?
किसके लिए सजा यह वैभव ,
किसके लिए सजी यह माया ?
अरे, हुआ क्या आँखों को जो ,
अपना घर लग रहा पराया ॥
मैंने क्या अपराध किया जो ,
दिन दिन में दुर्दैव समाया ।
हाय ! लाल ! यह तुम्हीं बता दो ,
मैंने क्या खोया, क्या पाया !!

२३

प्रलापी मेरा मन हो गया ।
नहीं । आज जो मैं कहती हूँ ,
उसे सुनो कृपया ॥

कल आई थीं इसी कक्ष में,
रानी कौशल्या।
कहा, 'राम वन गया,
न तेरा सुत, हे हत हृदया!'
मैंने भी कह दिया, 'सत्य
कहती हो पूर्णतया।
वन में राम गए हैं सुख से
करने कार्य नया॥
मेरा सुत तो यहीं कहीं है,
खेल रहा मृगया।
इतना कष्ट उठा कर तुमने
की है देवि! दया॥'

२४

'अरे सुन, ओ उन्मादी कीर!
तू भी वाक्य-वेध सीखा है,
पिंजड़े को दे चीर॥
मैं तो एकलव्य हूँ, यह है
मेरा तीखा तीर।
आत्मा को दे मार और
जीवित रह जाय शरीर॥

मेरा सदन, सदन मत कहना,
वह है एक कुटीर।
उसमें हैं नव द्वार, झाँकता
रह-रह प्राण समीर॥
एक बिन्दु को ऐसा बेधूँ
वह बन जाय लकीर।
ऐसी अग्नि उठे जिसके
भीतर बहता हो नीर॥'

२५

स्वामिनी को है व्याधि कड़ी।
शून्य गगन छोटा है,
उनकी आँखें बड़ी बड़ी॥
निर्निमेष चुपचाप देखने
ही की बान पड़ी।
जैसे प्रस्तर की प्रतिमा में,
हे युग - सीप जड़ी॥
कभी झिझक कर हो जाती हैं,
द्वार समीप खड़ी।
कभी देख वन ओर नयन से,
लगती अश्रु झड़ी॥

उनके उर में विषम वेदना,
है इस भाँति गड़ी।
युग की भाँति बीतती है, सखि!
दुख की एक घड़ी॥

२६

ऐसी जड़ता देह की।
जैसे विद्युत् के पीछे,
घिर जाय तिमिरता मेह की॥
रूखा सूखा वेश, बढ़ी है,
जैसे प्रभुता स्नेह की।
आँखों में सकुचित हो रही,
जैसे सीमा स्नेह की॥
आज न जाने कहाँ गई है,
सारी सुषमा गेह की।
इस कुंठित गति में छाया है,
जीवन के सन्देह की॥

२७

यह मूर्छा, सुख की स्वामिनी।
जैसे छाई रहती है,
निस्तब्ध शिशिर की यामिनी॥

शोभा शून्य आज दिखती हैं,
जो थीं अति अभिरामिनी।
जैसे घन के अंतराल में,
लीन हुई हो दामिनी॥
भय-आशंका रहित भूमि पर,
सज्ञाहीना भामिनी।
जैसे मरु में सूख रही हो,
कोई सागर - गामिनी॥

२८

'जनपद वासियो ! क्यों मूर्छा मेरी दूर हुई ?
युक्ति किसी भाँति न हो अब मेरे त्राण की।
सुख तो चले ही गए प्रिय पुत्र साथ जैसे,
प्राण कहाँ देह में है ? रेखा मात्र प्राण की॥
इस जग में न कोई माता ऐसा कष्ट पावे,
भाग्य में न रेखा रहे, पुत्र के प्रयाण की।
चन्दन के काष्ठ की न मेरी चिता चुनी जाय,
मेरी चिता बने एकलव्य ही के बाण की॥'

२९

अह एकलव्य का समाचार,
आया ! कब आयेगा कुमार ?

मेरी बिगड़ी वह दे सुधार,
बलि जाऊँ उस पर बार-बार।

३०

भाग्य की दिशाएँ जब काली मेघ छाया से,
हो रही मलीन थीं, अतीव परिताप था।
सुख सवाद की स हास रवि-रश्मि ने,
अश्रु-बिन्दु में सजाया एक इन्द्र चाप था॥

३१

'लाल को आया मेरा ध्यान।
दूर देश से आया है कुछ
वणिकों का जल-यान॥
यमुना तट पर जो वन है,
एकान्त और सुनसान।
वहीं हो गई एकलव्य से,
उन सब की पहचान॥
सबने उससे कहा लौटने,
निज अधिपति-सुत जान।
एकलव्य ने कहा—

'साधना है मेरा सधान॥
जननी की है शक्ति,

और है पूज्य पिता की आन।
सिद्धि कर रही एकलव्य का,
प्रति पद पर आह्वान।
सिद्धि सहित आऊँगा,
स्वीकृत करा यश-सम्मान।
माता चिंतित न हों,
इसी का मुझे मिले वरदान॥'
मेरी शक्ति सराहे मेरा लाल,
मुझे दे मान।
और रहूँ मैं इस उदात्त
पद से इतनी अनजान?
नहीं, सहूँगी सब कुछ,
चाहे हो कटु भाग्य-विधान।
दुख में भी मातृत्व-भाव का
जाग उठे अभिमान॥
मेरी शुभ आशीस् करे,
उसके दुख का अवसान।
रात प्रतीक्षा की कट जावे,
हो आनन्द विहान॥

नवम सर्ग

संकल्प

नवम सर्ग



आधी रात बीती। निद्रा जैसे एक माता है,
जग शिशु को सुलाए स्वप्न सजे अंक में।
उसको निहारती है, शान्त मौन भाव से,
अपने सहस्र नेत्र - तारकों की दृष्टि से।

चारों ओर नीरव दिशाएँ चिन्ता-मग्न-सी,
शीश झुका बैठीं भावना की गहराई में।
क्षितिज की रेखा जैसे शुष्क केश फैले हैं,
और मुक्ता-माल बिखरी है मुक्त तारों में।

एक ही नक्षत्र ध्रुव लीन है तपस्या में,
आसन में अटल निमेषहीन दृष्टि में।
घूमते सतर्षि सभी करते परिक्रमा,
जैसे नाद ब्रह्म के समीप सप्त स्वर हैं।

उस नक्षत्र से मिली है अनिमेष दृष्टि,
एक शान्त साधक की—एकलव्य शिष्य की।
जो कि गुरु ध्वनि की प्रचण्ड प्रतिध्वनि है,
जिससे समीर का प्रवाह भी विषम है।

निर्जन अरण्य-भूमि जैसे अघी वृद्धा है,
बैठी हुई शून्य-सी है विवश एकान्त में।
अस्त-व्यस्त वस्त्र सा विषम धरातल है,
कहीं गिरा नीचे और कहीं टेढ़ा-मेढ़ा है।

पेड़ जैसे अष्टावक्र खड़े ज्ञान-मुद्रा में,
जनक विदेह की सभा में शास्त्रार्थ हेतु।
झाड़ियों के झुंड जैसे वीतरागी संत हैं,
जटिल झुकाए शीश चिन्तन में लीन हैं।

भूमि में छिपे ये कुश-कंटक अपार हैं,
उदासीन माता के मानों उद्दंड बाल हैं।
आया जो समीप, वे उलझते उसी से हैं,
ऐसा कष्ट देते हैं कि पैर रुक जाते हैं।

और ये शिला के खंड फैले हुए ऐसे हैं,
जैसे कष्ट पुंजीभूत होके यहाँ बैठा है।
अथवा शोभाग्नि के अंगार हैं बुझे हुए,
या कि भूमि भाग्य के ये कठिन कुअंक हैं।

एक घना पेड़, नीचे एक शिला टेढ़ी सी,
मध्य में सिकोड़ पैर एकलव्य बैठा है।
पार्श्व में धनुष और तीर विष-भीने हैं,
जीवन के वक्ष पर जैसे सधी मृत्यु है।

वन वन कंटक चुभे हैं, पद तल में।
पथ-पथ धूल की धरोहर है तन में।
मन में सुदृढता कठोरता सी मुख में,
जैसे वह श्याम शिला-खंड ही का भाग है।

धूमिल प्रकाश—मन्द तारकों की छाँह में,
पेड़ों के समीप बिसरा है मुरझाया सा।
आत्मा की घोर अंधकारमयी रजनी में,
आहत विवेक भय त्रस्त जैसे होता है।

धूमिल प्रकाश की उदासी बीच वेग का
वलय बना सा एकलव्य समासीन है।
विद्युत्-तरगों जैसी राशि राशि भावना
चक्राकार रूप में प्रखर गतिशील है।

" आर्य गुरु द्रोण—मेरे आर्य गुरु द्रोण ने
क्या कहा था जब मैं झुकाए शीश बैठा था—
' किन्तु मेरे शिक्षण के वे ही अधिकारी हैं
जोकि भूमि पुत्र नहीं, किन्तु भूमि पति हैं।'

भूमि पति वे सही प्रशासक हों भूमि के,
किंतु क्या सरस्वती का शासन करेंगे वे?
राज-दंड तो विधान करता है राज्य का,
किंतु है सरस्वती निवासिनी हृदय की।

कैसे एक मात्र वे लहेंगे वेद-विज्ञता ?
वेद-विज्ञता तो शुद्ध साधना से आती है।
भूमि पति जो हैं, उन्हें साधना की साध क्या!
वे तो बिना साधना के पूर्ण सिद्धि कामी हैं।

किन्तु भूमि पुत्र उठता है जैसे भूमि से,
पत्थरों की सधियों में सूर्य की किरण का
हाथ आता है उसे उठाने को प्रभात में,
ओस से नहाता हुआ बादलों की ओट में।

वायु की तरगों में उठाता शीश अपना,
पैर देके कटकों के बीच खड़ा होता है।
सूर्य की प्रखर अग्नि उसका बिछौना है,
झझा का प्रहार उसे यौवन का व्रत है।

शीत का प्रकोप उसे ओप से है भरता,
और वर्षा का प्रचण्ड घोष देता वाणी है।
ऐसा भूमि-पुत्र है जो मानव का मान है,
बाधा धन्य होती है उसी से हार मान के।

अधकार में भी जो प्रकाश बीज बोता है,
निद्रा-हीन आशा अनुगामिनी है जिसकी।
जिसके समक्ष दुःख अपना स्वभाव ही
क्षण में बदल लेता, सुख बन जाता है।

भूमिपुत्र होना, मेरे भाग्य का सुयोग है,
भूमिपति में तो मुक्त मानव विकृत है।
मूल्य नहीं जानते वे जीवन की गति का,
सुख है निमेष जैसा, दु:ख लम्बी दृष्टि है।
अरे यह जीवन विभूति ही है भूमा की,
सुख तो छिपा है यहाँ सृष्टि के शिविर में।
खोजो उसे। दु:ख तो विवशता तुम्हारा है,
आलस तुम्हारा सृष्टि क्रम का न अंग है।

गुरुदेव ने कहा था आह! किस कष्ट से—
'गुरुकुल है कहाँ, यहाँ तो राजकुल हैं।'
हाय, गुरुदेव! क्या परिस्थिति के जाल ने,
खींचा तुम्हें भूमिपतियों की राजधानी में।

ऐसी राजधानी का विनाश होगा शीघ्र ही,
जो महर्षियों को राजनीति से चलाती है।
जिसने किया है भेद मानव के पुत्रों में।
भूमिपति, भूमिपुत्र वर्ग हो गए हैं दो।

सावधान, भूमिपति! हम में भी शक्ति है,
भूमिपुत्र सर्वदा हैं भूमि-बल जानते।
पशु-बल कौशल तो सीमित तुम्हारा है,
आत्म बल की हमारे पास सीमा है नहीं।

एक असि झेलने को हैं अयुत अस्थियाँ,
अंग में हमारे पास, कितना प्रहार है
देखें, नवनीत लगे इन भुजदंडों में,
जो कि सत्य की न, राजनीति की भुजाएं हैं!

व्यंग्य के धनुष में हंसी बनी प्रत्यंचा है,
देखें, किस सीमा तक वह खींची जाती है।
क्रुद्धा कामिनी के मुक्त मुख - जैसे त्रोण में,
देखें, हलाहल बुझे कितने नाराच हैं!

गज, अश्व और रथ इनकी ही सेना है,
जोकि चलती है जरा, मृत्यु ही के मध्य में।
साहस है बस, शस्त्र की प्रखर धार में,
और है विजय - ध्वनि शुष्क जय - घोषों में।
किंतु शौर्य - धैर्य - मयी बाहुएँ हमारी हैं
ब्रह्मचर्य - अंग पर सत्य का कवच है।
मन - तूणीर में शिलीमुख हैं संयम के,
और काल धनु पर प्राण की प्रत्यंचा है।

कैसे इस शक्ति के समक्ष तुम सहसा,
छीन लोगे मेरे पूज्य आर्य गुरु द्रोण को?
यह तो असंभव है, उनका शरीर ही
चाहे हो तुम्हारे पास। आत्मा से हमारे हैं।

पूज्य गुरुदेव ! इस स्वार्थी राजनीति ने,
यदि गुरुकुल से रहित किया तुमको,
तो नवीन आश्रम बनेगा यहां फिर से,
जिसमें तपस्या अग्नि आत्मा जैसी जागेगी।

तुम होगे मेरे, गुरुदेव! आचार्य यहाँ,
मैं बनूँगा एक - मात्र शिष्य पद पद्मों में।
ज्ञान धनुर्वेद का सुनेंगे तरु - गिरि भी,
यहां कौन दूसरा है, सब भूमिपुत्र हैं।

किन्तु तुम कैसे यहाँ होगे
सूक्ष्म रीति से ?

मुझ में ?
हां, करते निवास सदा मुझमें।
किन्तु सकेत मुझे होगा किस भाँति, देव !
उस धनुर्वेद का जो शिष्यों को सिखाते हो ?
फिर ?

एकलव्य सोचता ही रहा क्रमश —
'फिर मैं बनूँगा किस भांति शिष्य प्रभु का ?
मात्र धारणा की शिष्यता क्या पर्याप्त होगी !
नहीं—फिर धनुर्वेद - शिक्षा की जो साधना,
मुझे करनी है, लक्ष्य कौन सिखलाएगा !

सीखना तो होगा मुझे, किंतु निर्देश सदा,
गुरु ही करेंगे मुझे किंतु, गुरु सम्मुख
होंगे किस भांति मेरे चित्र में या मूर्ति में?
मूर्ति में हाँ मूर्ति ही में गुरु होंगे सम्मुख
तब मैं बनाऊँगा उन्हीं की मूर्ति रुचि से
मूर्ति किस धातु की हो? धातु की ।

या काष्ठ की?
काष्ठ की हो, हानि क्या है, मूर्ति तो है गुरु की।
इसी घने पेड़ का विशाल काण्ड काट के,
शर से बनाऊँगा सु-मूर्ति गुरुदेव की
जो मुझे संकेत देगी लक्ष्य-वेध शिक्षा का।

किन्तु सूखा पेड़ मेरा भावना का केंद्र हो?
नहीं, भूमि-कण से बनेगी मूर्ति गुरु की।
भूमि-कण जोकि आदि अंत में है एक सा,
रत्न भी तो भूमि कण में उत्पन्न होते हैं।

वह भूमि-कण ही है, रत्न-कण है नहीं,
जोकि सूखे बीज को सजीव कर देता है।
नवल हरीतिमा में उस एक बीज को।
शत - शत करता है मोद में सृजन के।

मेरी भूमि! तुम तो सदा ही विश्वम्भरा हो,

मेरी गुरु मूर्ति जोकि निर्मित हो तुमसे,
ऐसे शक्तिशाली कण प्राप्त करे तुमसे,
मेरी साधना का एक बीज ही सहस्र हो।

इसी भूमि-खंड मध्य दिव्य ब्राह्म वेला में,
आश्रम प्रतिष्ठित तपोवन की भांति हो।
पावन सु-भूमि की सु रज की सु-शोभा से,
प्रतिमा सु निर्मित हो मेरे गुरुदेव की।

मेरे गुरुदेव मेरे सम्मुख सदैव हों,
होंगे नित्य नई ज्ञानदानमयी मुद्रा में।
मैं भी उन्हें देख-देख लक्ष्य-भेद सूक्ष्मता,
निश्चित ही सीख लूँगा सतत अभ्यास में।
कन्दमूल फल जो मिलेंगे इस वन में,
अर्पित हों गुरु को, प्रसाद तब पाऊँगा।
निर्झर-नीर से करूँगा अभिषेक नित्य,
सेवा-परिचर्या कर धनुर्वेद सीखूँगा।

हिंस्र पशुओं से प्रताड़ित हुए जीव जो,
इस वन में महान् कष्ट नित्य पाते हैं।
उनकी सुरक्षा सदा करता रहूँगा मैं,
शिक्षा का प्रयोग इस भांति होगा नित्य ही।

क्षीन मृगों के जब तीव्र व्याघ्र गर्जना से,

अधचबी दूब छोड़, चरण-चरण चौंक के,
शंकित दृगों से निज जननी के पार्श्व में
जननी के पार्श्व में—हाँ, उसके समीप हो,
इस उस ओर देख तन में सिमिट के,
जननी की ओर मुख

मेरी जननी भी तो,
कितनी दुखित होंगी मेरे बिना गृह में,
नित्य ही प्रतीक्षा में वे दिवस बिताती हों।

नित्य नवे व्यञ्जन बना के अति प्रेम से,
कितने ही चाव से सँजोए हुए पात्र में,
मार्ग देख - देख साश्रु - नयना निराश हो,
ग्राम बालकों को बाँट - बाँट देती होंगी वे।

उस दिन मैंने जब आर्य ही के ध्यान में,
भोजन किया था नहीं, विविध उपायों से
मुझको मना के तब भोजन कराया था,
और बिना खाये कहा—'हाँ, हाँ, खा चुकी हूँ मैं'

मात, तुम कितनी उदार हो, सहज हो,
पुत्र का कुशल ही, तुम्हारा योग - क्षेम है।
कष्ट मुझे हो, कराह है तुम्हारे मुख में,
एक अश्रु में तुम्हारे सोए सप्त सिंधु हैं।

सेवा करना था मुझे जब श्री चरण की,
तब व्रत-धारी बना बैठा हूँ वनान्त में।
किन्तु, माँ! क्षमा हो, व्रत होते हैं निभाने को,
अद्भुत आदर्श क्या न प्राप्त किये जाते हैं?

तुमने सिखाया मुझे निज प्रण पालना,
शिक्षा दी तुम्हीं ने कैसे विद्या पढ़ी जाती है।
पाल मैं रहा हूँ, माँ! कर्तव्य जो है सामने,
क्या न मेरी साधना में तुम सुख मानोगी?

यदि एकलव्य ने विजय कहीं प्राप्त की
होगा श्रेय माता का, तुम्हारा माँ! तुम्हारा ही।
बाँसुरी के छिद्रों में जो रागिनी उठेगी, माँ!
उसमें प्रवाह रहेगा तुम्हारी साँस का।

नागदन्त द्वारा भिजवाया जो सदेशा था,
उसने कहा ही होगा मेरी नम्रवाणी से।
शान्ति से समझ लेना मेरे सब भावों को,
बात मेरे मन की तो जानती हो, मेरी माँ!

वणिक् मिले थे कुछ मार्ग में उन्होंने तो,
लौट चलने को कहा आग्रह से प्रेम से।
बोले—'साधना तो नित्य होती है सभी कहीं,
घर में रहोगे तो सहायता ही पाओगे।'

मैंने कहा—'श्रीमन् ! सदा ही मैं कृतार्थ हूँ,
आपके अमूल्य इन प्रेम-भरे शब्दों से,
किन्तु मेरी साधना में व्यर्थ है सहायता,
साधना भी कोई दश देश का वाणिज्य है ?'

बुरा मान बैठे सब, मैंने क्षमा मांग ली,
आपके चरण का अमोघ आशीर्वाद है।
और पिता के प्रताप का अनन्त बल है,
सिद्धि प्राप्त करके ही लौटूँगा सवेग मैं।
कही होंगी मेरी यही बातें उन सभों ने,
जोड दी हों सम्भव है, और भी अत्युक्तियाँ।
किन्तु, माँ ! तुम्हीं कहो, क्या बात थी बुरी कही ?
साधना तो आत्म बल से ही सिद्ध होती है।

इष्ट प्राप्ति शीघ्र हो, मैं चाहता आशीस् हूँ,
लाओ, मैं चरण छू लूँ—
आह ! शिला - खड है।
माँ ! तुम कहाँ हो ? सब भूल गया ध्यान में।
समझा कि तुम मेरे सम्मुख ही बैठी हो।

सम्मुख हैं मेरे ये शिला के खड शतश,
और यह वन है भयानक विपण्ण सा।
प्रेत से खड़े हैं पेड़

उधर से सहसा
एक व्याघ्र वज्र-सा प्रचंड भूमि-खंड को
खड़-खड़ करता गिराता द्रुम दण्डों को,
झाड़ियों के झुंडों को चपेटता या मेटता
टूटा एकलव्य पर
पवि की तड़प से।

एकलव्य तत्क्षण ही विद्युत् प्रकाश सा,
आ गया शिला तल में, और एक क्षण में,
बाण संधान किया, कठिन कोदण्ड पर,
लक्ष्य लेके बाण ऐसा छोड़ा व्याघ्र-उर में
गर्जन चीत्कार बन, मृत्यु में समा गया।

शक्ति का समूह मृत मांस का समूह था,
रक्त धारा एक गतिशील बही धीरे से।
भूमि को भिगोती हुई पहुंची प्रवाह में,
आई एकलव्य के समीप पद-तल में।

'आश्रम के हेतु एक बलि भी तो चाहिए,
हिंस्र पशु लक्ष्य-वेध का ही तो प्रतीक है।
मेरी साधना भी मार्ग खोज सके अपना,
जैसे कि चली आई यह रक्त की लीक है।'

दशम सर्ग

साधना

दशम सर्ग



तीसरी घोषणा है महाभारत के युद्ध की,
पाप हो या पुण्य शक्ति के समक्ष नत है।
जीवन का युद्ध लड़ो, धर्मराज-यशजो !
वीर का न अन्य कोई जीवन में व्रत है।

सूर्य का मुकुट जैसे व्योम भाल पर है,
जैसे काव्य-शीर्ष पर शारदा की स्तुति है।
सागर के शीश पर झंझा ज्यों झूलती है,
जैसे शंभु शीश पर जाह्नवी की द्युति है।

वैसे ही तुम्हारा भाल शौर्य शक्ति, कांति से,
अंकित हो भौंह की स शक्त रेखा वक्र में।
घूमती तुम्हारी दृष्टि में हो शक्ति वैसी ही,
जैसी शक्ति घूमती है श्री-वर के चक्र में।

धैर्य का कवच दुर्वचन से अभेद्य हो,
कार्य की कुशलता ही हो कृपाण-धार सी।
नीति हो तुम्हारी मति और क्षमा यति हो,
गति हो तुम्हारी एकलव्य के प्रहार - सी।

वर्तुल कठिन काड वाले नील बाण हे !
वन्दना तुम्हारी कवि करता है कब से,
श्रेष्ठ वज्र बाण ! गतिशील हुए तुम यों,
गूँज उठा नील व्योम क्रान्तिकारी रव से ।

वायु की तरगें मध्य ही में मुड़ जाती हैं,
जब तुम चलते हो चाप से निकल के।
स्वप्न सत्य बनते हैं एक क्षण-भर में,
और सत्य बनते हैं भूले स्वप्न कल के।
उड कर लक्ष्य वेधने में कल्पना उडी,
बिछुड़े धनुष से कि सास ही बिछुड़ती।
पूर्व और पश्चिम दिशाएँ प्रतिकूल भी,
बाण ! हैं तुम्हारी गति-रेख में ही जुड़ती।

हीनवर्ण उठता है, उच्चवर्ण हीन हो,
काटता है तुमको, पराजित हो नीति से।
फिर भी उठे ही रहे वर्ण भेद वेध के,
तुम एकलव्य के करों के पले प्रीति से।

मेरा काव्य-तूण आज सज्जित है तुम से,
ऐसी गति से चलो कि श्वान मुख भर दो !
एक शब्द भी न कभी निकले विरोध में,
मेरा काव्य श्राव्य महाभारत सा कर दो !

अम्बर की नीलिमा में श्वेत रंग आ गया,
तारे कुछ फीके पड़े, वायु बही धीरे से।
जैसे स्वप्न सरक रहे हैं मन्द गति में,
और जीर्ण नींद पत्र गिरा दृग-वृन्त से।

हलका प्रकाश आया जैसे आत्म बोध हो,
प्रतिक्षण जिसके विकास की प्रगति है।
और पूर्व की अनूप स्पष्ट ज्योति-रेखा में,
सृष्टि को सजाता है अनूप राग-रंग से।

इस ज्योति-पर्व में विहग-वृन्द हर्ष से,
जागरण-गीत जैसे गा उठे हैं मुक्त हो।
उड-उड डाल-डाल बैठे ऐसे झूलते,
जैसे नए भाव झूलते हैं छंद-छंद में।

प्रस्फुटित ज्योति हुई वन-प्रांत क्रमश,
स्पष्ट हुआ अपनी विशाल रूप-रेखा में।
भाँति-भाँति के अनेक वृक्ष रूक्ष काय में,
ऐसे खड़े जैसे प्रहरी हों इस देश के।

झाडियाँ कटीली जैसे चक्रव्यूह-योजना
की हो वन-भूमि ने, न यहाँ कोई आ सके।
वन-भूमि ऐसी है कि अयन अगम हैं,
गह्वर हैं जिनमें कि मृत्यु गहराई है।

नद है उमड़ता शिलाएँ तोड़-फोड़ के,
घोष करता है जैसे क्रुद्ध युद्ध-वीर है।
अपने प्रपात में गरजता है और भी
जैसे खड्‌ - खड्‌ में अखड़ता का नाद हो।

कुछ दूर पत्थरों से ऐसी पटी भूमि है,
जैसे वह वन का कठोर वक्षस्थल है।
घास उगी ऐसी जैसे वह रोम राशि है,
कुछ वेलें फैलीं जैसे उभरी शिराएँ हैं।

ऐसी है कठोर भूमि वहीं पूर्व कोण में,
एक पुण्य आश्रम है। काष्ठ - दण्ड सीमा है।
बीच में उटज है, जो साल वृक्ष काण्डों से,
सुदृढ खड़ा है, जैसे अविचल धैर्य है।

पल्लवों की श्रेणी छाया-पट सी है मण्डिता,
जैसे शक्ति-शीलता में है क्षमा कसी हुई।
बीच में बनी है कुछ पत्थरों से वेदिका,
सम है, सुदृढ है, ज्यों सत्य की है पीठिका।

उसके समक्ष मूर्ति मृण्मयी विशाल है,
वीरासन मुद्रा, सब अंग ढले साँचे में।
उन्नत ललाट, केश अंशुशायी मुक्त हैं,
दीर्घ खुले नेत्र। कुछ वंकिम भृकुटि है।

लंबी उठी नासिका, हैं अधर कसे हुए,
श्मश्रु दप्ट्रिका के बीच मानो शक्ति-बीज हों।
तनी हुई ग्रीवा, वक्ष - देश उभरा हुआ,
पुष्ट भुज - दण्ड, कर - मध्य शरासन है,
तर्जनी - अंगुष्ठ बीच विशिख प्रचंड है,
लक्ष्य - वेध दृष्टि मिली दूर है क्षितिज से।

मूर्ति गुरु द्रोण की है, शिष्य एकलव्य ने,
स्निग्ध चन्द्र-ज्योत्स्ना और तीव्र रवि-रश्मि ले,
सीप - कण मिश्रित मृदुल रज कण में,
भैरव हुंकार - पूर्ण नद - जल डाल के,
अथक करों से तथा अनिमेष दृष्टि से,
पूर्ण मनोयोग से सु योग में बनाई है।

कितनी सजीव सी है मूर्ति गुरु द्रोण की।
ज्ञात यह होता उसे देख कर सहसा,
सारा धनुर्वेद लेके इस तीव्र दृष्टि में,
शिक्षा दान देने को स-तर्क हुए बैठे हैं।

पुण्य ब्राह्म वेला में सुमन माल गूँथ के,
पूजन किया है एकलव्य ने प्रणत हो।
निज गुरु-श्रद्धा ही साकार की है सामने,
और नेत्र बंद किए सामने ही बैठा है।

पारावत - पंख शीश में विचित्र हैं कसे,
लना जटाजूट श्याम मस्तक की शोभा है।
जैसे श्याम मेघ में खचित इन्द्र-चाप है,
खड खड हो के कहीं ऊपर है, नीचे है।
है प्रशस्त भाल घने केश उठे भौंहों में,
बीच में मिले हैं जैसे कर्षित धनुष है।
नासा रेख उन्नत कपोल सौम्य, कर्ण में
निलुलित हैं कुण्डल सुरम्य स्फटिक के।
सम्पुटित नील पद्म-जैसे बन्द नेत्र हैं,
लीन जिनमें है दिव्य मूर्ति गुरु द्रोण की।
अधर-स्पन्दन कभी दृष्टिगत होता है,
'गुरुदेव' ध्वनि उठती है मन्द वायु में।
हृष्ट पुष्ट विग्रह है, ब्रह्मचर्य तेज से,
कसा पीत वल्कल है, वल्लरी के रज्जु से।
ऐसा ज्ञात हो रहा है वह इस वेश में,
ज्यों हो श्याम मेघ पर रश्मि बाल रवि की।

फिर से प्रणाम किया एक बार गुरु को,
नेत्र खोल उनके पदों में दृष्टि डाल दी।
और हाथ जोड कर प्रार्थना की उनसे,
जैसे चन्द्र देख कर सिन्धु की तरग हो।

'देव ! क्षमा चाहता हूँ, मेरे इन हाथों ने,
मृत्तिका की मूर्ति में है खींचा रूप आपका।
आप हैं महत्तम, प्रतीक अति लघु है,
किन्तु आप ही हैं वर्तमान कण-कण में।

सम्भव है, शिल्प में रही हो कुछ न्यूनता,
शैशव की सीखी कला पूर्ण नहीं होती है।
किन्तु है निरीहता, पवित्रता प्रयास में,
इसका प्रमाण आपका ही तो हृदय है।

हस्तिनापुरी में, देव ! आप अति व्यस्त हैं,
कितने कुमार नित्य सीखने को आते हैं।
एक-एक शिष्य वाणी चाहता है आपकी,
देव ! धनुर्वेद के पुनीत विद्या दान में।

किन्तु, देव ! शिष्य यहाँ एकलव्य एक है,
प्रणत हुआ है वह पावन चरण में।
केवल इसी को यहाँ विद्या दान चाहिए,
शिक्षा शत - शत वृन्त लेके प्रस्फुटित हो।

वन्य पशु - अस्थि और सींग का धनुष है,
द्रुम - काण्ड काट कर विशिख बनाए हैं।
राशि राशि सञ्चित किए हैं मैंने सेवा में,
चाहिए संकेत मुझे एक - मात्र दृष्टि का।

सम्मुख अनेक तरु-जाल लता कुंज हैं,
होंगे यही लक्ष्य लक्ष लक्ष्य वेध दृष्टि के।
वायु के प्रवाह में संकेत होगा देव का,
पल्लवों के शब्दों में उठेगी ध्वनि शिक्षा की।
आज से लिया है यह व्रत इस शिष्य ने,
आपके समक्ष यह साधना में लीन हो।
धनुर्वेद का अभ्यास नियमित रूप से,
ऐसे हो कि जैसे इस नद का प्रवाह है।

गतिशील जल-सा धनुष गतिशील हो,
लहरों की भाँति चक्राकार शर क्षेप हों।
भँवर पड़ें जो वे ही लक्ष्य-वेध चिह्न हों,
कोटियों की भाँति तट सर्वदा सधा रहे।

निशिदिन कोई भी समय मेरी साधना,
अंगीकार हो, हे देव! आपके प्रताप से।
मेरा धनुर्वेद सिद्ध होकर रहेगा ही,
अग्नि जन्म के लिए संघर्ष ही तो चाहिए।

चाहिए संघर्ष ही, मैं सोचता सदैव हूँ,
कैसी यह बात है जो मन में कसकती!
मैंने सुना, विद्या-दान शूद्र हेतु है नहीं,
सत्य है क्या, देव! यह सामाजिक मान्यता?

आपने कहा था उस दिन किस अर्थ में ?
'जाओ, हे निषादपुत्र ! तुम हो अस्वीकृत'
'तुम हो अस्वीकृत' कहा था यह किसने ?
आपने या आर्य भीष्म ही की राजनीति ने ?

शूद्र धनुर्वेद अधिकारी यदि हो गए,
तो करेंगे क्षत्रियों को रण में पराजित।
क्योंकि अभी क्षत्रियों का मात्र नवोदय है,
और शूद्र भारत के आदिम निवासी हैं।
उन्हें कल्प-बल वाली वाहिनी का बल है,
और क्षत्रियों को वाहिनी का अल्प बल है।
शूद्र कहा हम मूल देश-वासियों को क्यों ?
इसलिए कि ये आर्य गौर वर्ण वाले हैं।
और हम श्यामवर्ण, वन्य वेश-धारी हैं।
अत्याचार सहते हैं, इसलिए शूद्र हैं ?
अपनी सु-भूमि पर शान्तिपूर्ण ढग से,
हम रहते थे, किया आक्रमण किसने ?

आक्रमणकारी कौन ? आर्य ! वे क्या आर्य हैं ?
जोकि शान्ति-प्रेमी जनों के लिए कृतान्त हैं ?
अपने को आर्य कहा और हमें हिंसा से—
शूद्र कहा, पैरों-तले मर्दित किया सदा !

सेवक बनाया हमें किस अधिकार से?
इसलिए कि शक्ति में उन्हें यश प्राप्त है।
किंतु शक्ति मानव की, देव! दानवी नहीं,
मानव की शक्ति तो महान् तब होती है,

जब वह दानव को मानव बना सके,
और सब मानवों में साम्य की हो स्थापना।
हम हैं अछूत, तो हमारे अंग-स्पर्श से,
आर्यों के सु अंग क्या कु अंग बन जावेंगे?

चाहिए तो यह था कि आततायियों को ही,
शूद्र मान, हम आर्य अपने को कहते।
किंतु शूद्र और ब्राह्मणों में भेद कैसा है?
जबकि संपूर्ण अंग मानवों के सब में?

हमने सहन की है वर्ग की विगहणा,
शूद्र कहलाते रहे सेवा भाव मान के।
किन्तु जब मानव को विद्या का निषेध हो,
बात क्या नहीं है क्रान्तिकारी बन जाने की?

किन्तु यह राजनीति की ही विष-बेलि है,
जो निषेध करती है—शूद्र विद्यावान् हों।
'जाओ, हे निषाद पुत्र! तुम हो अस्वीकृत,'
आप नहीं कहते हैं, राजनीति कहती।

मेरी इस साधना में राजनीति नष्ट हो,
आप आर्य ही रहें, मुझे तो शिष्य मान लें।
जानता हूँ, भेद भाव आप नहीं मानते,
किन्तु नीति आप से ही यह मनवाती है।

अत विपाक्त राजनीति से सुदूर यहाँ,
आपको मै लाया हूँ प्रशान्त तपोवन में।
आप यहाँ शान्ति से निवास करें सर्वदा,
आपकी पुनीत सेवा में रहूँगा नित्य ही।

आप सब काल, सब भाँति गुरुदेव हैं,
एकलव्य शिष्य के, जो सब काल शिष्य है।
'जय गुरुदेव' कह एकलव्य शिष्य ने,
आँखें गुरु चरणों में फूल जैसी डाल दीं।

और डूबा भावना की ऐसी गहराई में,
नेत्र खुले थे, परन्तु दृष्टि थी वहाँ नहीं।
पोहता भविष्य सूत्र मुक्त वर्तमान में,
कौन जाने किस लोक में प्रशान्त लीन थी।

शब्द-हीन शून्य में विचार-रश्मि-रेख-सी,
काल के पटल पर स्मृति-सिहरन सी,
चेतना में व्यक्त हुई, गतिशील आत्मा सी,
सत्य के भी सत्य में चली प्रवेश पाने को—

दृष्टि एकलव्य की। थे कौतुक सजे हुए,
जैसे सौर मडल के एक एक ग्रह की,
किरणों के जाल में हो क्रीड़ा त्रिसरेणु की।
दृश्यों के समूह इस भाँति बहे जाते हे,
जैसे एक चेतना का नद हो, दिशाओं की
सीमा तोड-तोड गिरता हे अतरिक्ष में।
नाम हीन गति झकझोरती है वायु को,
दिनकर अश्व पैठते हें लोकालोक म।
क्षण क्षण ज्योति बिन्दु जन्म ले रहे हें जो,
समय के शीश पर सजते हें रत्न से।

बादलों के द्वार सभी खुल गए क्षण में,
नभ-नीलिमा पडी है बालिका-सी गोद में।
और शून्य उसको दुलारता दिशाओं में
किरणों के बीज उगते हें क्षण भूमि से।
मणिमय सिहासन पर सत्य शोभित।
मृत्यु और जन्म यहाँ अति द्रुत गति से
नाचते ह, जैसे नाचती हें जल वीचियाँ,
सुख का भरा है ताल, और दु ख खाली है।
जीवन का रगमच नाना वेश-भूषा में,
सजता है, बादलों की उठती यवनिका।

प्रेम का प्रकाश कभी लालिमा-सा फैलता,
और कभी तिमिर घृणा का चढ जाता है।
आती घटनाएँ सत्यासत्य पात्र - सज्जा में,
गाती रहती है आत्मा भैरव - विहाग में,
एक - मात्र सत्य ही की पूर्ण अनुभूतियाँ
रोम-रोम में प्रविष्ट क्षण में ही हो गईं।

कलव्य देखता है, प्रकृति - किरीटिनी,
प - छींट वाली कमे हरी पत्र कचुकी
लाम्बर धार कर वायु का प्रतोद ले,
ष्टि - रथ आगे बढ़ा, आ रही है सुन्दरी।

शालियाँ अनेक अन्न की, सजा के आरती,
गाती आ रही हैं विहगों के कल-कंठ में।
सुरभि सुहासिनी अनेक रूप रजिता,
अप्सराओं सी बनी है झूम झूम जाती है।
कुरवक, यूथिका, रसाल - मजरी सजे
मौलश्री, अशोक कामदेव के विशिख हैं।
कोकिल की तान जैसा काम - धनु तान के,
एकलव्य उर मध्य करता प्रहार है।

तु गुरु ध्यान का कवच कसा ऐसा है,
ठित हो गिरते हैं बाण सभी व्यर्थ हो।

दृष्टि एकलव्य की। थे कौतुक सजे हुए,
जैसे सौर मडल के एक-एक ग्रह की,
किरणों के जाल में हो क्रीडा त्रिसरेणु की।
दृश्यों के समूह इस भाँति बढे जाते हैं,
जैसे एक चेतना का नद हो, दिशाओं की
सीमा तोड-तोड गिरता है अतरिक्ष में।
नाम हीन गति झकझोरती है वायु को,
दिनकर अश्व पैठते हैं लोकालोक में।
क्षण क्षण ज्योति बिन्दु जन्म ले रहे हैं जो,
समय के शीश पर सजते हैं रत्न से।

बादलों के द्वार सभी खुल गए क्षण में,
नभ-नीलिमा पडी है बालिका-सी गोद में।
और शून्य उसको दुलारता दिशाओं में
किरणों के बीज उगते हैं क्षण भूमि से।
मणिमय सिंहासन पर सत्य शोभित।
मृत्यु और जन्म वहाँ अति द्रुत गति से
नाचते है, जैसे नाचती हैं जल-वीचियाँ,
सुख का भरा है ताल, और दुःख खाली है।
जीवन का रगमच नाना वेश-भूषा में,
सजता है, बादलों की उठती यवनिका।

प्रेम का प्रकाश कभी लालिमा-सा फैलता,
और कभी तिमिर घृणा का बढ जाता है।
आती घटनाएँ सत्यासत्य पात्र सज्जा में,
गाती रहती है आत्मा भैरव - विहाग में,
एक - मात्र सत्य ही की पूर्ण अनुभूतियाँ
रोम-रोम में प्रविष्ट क्षण में ही हो गईं।

कलव्य देखता है, प्रकृति - किरीटिनी,
प - छींट वाली कसे हरी पत्र कचुकी
ीलाम्बर धार कर वायु का प्रतोद ले,
ष्टि रथ आगे बढा, आ रही है सुन्दरी।

शालियाँ अनेक अन्न की, सजा के आरती,
गाती आ रही हैं विहगों के कल कठ में।
सुरभि सुहासिनी अनेक रूप रजिता,
अप्सराओं सी बनी है झूम झूम जाती है।
कुरबक, यूथिका, रसाल - मजरी सजे
मौलश्री, अशोक कामदेव के विशिख हैं।
कोकिल की तान जैसा काम - धनु तान के,
एकलव्य उर मध्य करता प्रहार है।

कितु गुरु ध्यान का कवच कसा ऐसा है,
ठित हो गिरते हैं बाण सभी व्यर्थ हो।

वह भी तो चेतना से स्पन्दित है हो रही,
अंग अंग आतुर हे जैसे गति लेने को।

नेत्र कुछ फैल गए, वंकिम भृकुटि है,
नासा-पुट स्पंदित से बार बार हो रहे।
मुख कुछ कहने को चाहता है खुलना,
और तर्जनी का संकेत उठ रहा सा है।
पक्षि-कंठ कूजन में ध्वनि कोई उठती,
दृष्टि जैसे सम्मुख है तरु-वृन्त ओर में
कर कोदंड छोड़, उत्थित अब हो रहा,
अरे, तरु-वृंत पर एक काला सर्प है!

एकलव्य ने उठाया शीघ्र कोदंड - बाण,
'जय गुरुदेव!' कह लक्ष्य लिया वृन्त का।
तीर छोड़ा, क्षण में ही फण उस सर्प का,
कट कर नीचे गिरा तरु-निम्न भूमि में।

'लक्ष्य ठीक सधा, देव! आपके संकेत से,
आपका आदेश तो अमोघ सदा होता है।'

एकलव्य ने प्रणाम किया गुरुदेव को,
होती नत साधना ज्यों सिद्धि के चरण में।

'देव! आपने निकाली वीटिका थी कूप से,
ठीक इसी भांति जैसे पन्नग का फण हो,

वही दुहराया लक्ष्य जैसे इस क्षण में।
धन्य गुरुदेव! शिक्षा आपकी महान् है।
आप इसी भाँति ये संकेत करते रहें,
और लक्ष्य - वेध होता रहे इन बाणों से।
शिक्षा के चरणों में, देव! नियमित होऊँगा,
और रात - दिन मेरी साधना सजीव हो।'

भूल गया अपने को शिष्य एकलव्य था,
ऐसी साधना सधी थी प्रहरों के अंक में।
नित्य नये शत शत लक्ष्य विद्ध होते हैं,
और सिद्ध साधना थी गुरु के संकेत से।
मूर्ति गुरु द्रोण की सजीव जैसे हो उठी,
क्षण की प्रगति थी कि गुरु का संकेत था।

शून्य के हृदय में भी कोई सूक्ष्म वाणी थी,
वायु की लहर में थी तर्जनी उठी हुई।
चलदल की गति में सु लक्ष्य प्रयोग था,
किसलयों में थी अग्नि शिखा जैसे काँपती,
जो कि बन जाती ध्वनि सूक्ष्म गुरु वाणी की।

लता गुल्म बीच जैसे छिपा लक्ष्य झाँकता,
कहता कि वेधो मुझे सूचीमुख बाण से।
छाया बढ़ती थी जैसे गुरु का आदेश हो,

इन्द्रियों के पार जोकि तीव्रगामी मन है,
वैसा लक्ष्य है। सधान शर करो यत्न से,
साथ-साथ मन के, प्रवीण! वेधो लक्ष्य को।

हाँ, विशाल शैल के प्रशस्त पार्श्व में पड़ी,
शिलाजीत-रेखा में जो चिह्न अकुरित हैं।
वे तुम्हारे बाणों की प्रतीक्षा में निरत हैं,
दम्भपूर्ण मानव से शैल के शिखर हैं।
भाग्य जैसे पैने बाण द्वारा वे विदीर्ण हों।
भोले प्राणियों को मारते हे हिंस्र जतु जो,
उनके ही प्राण चाहते हें बाण त्राण के।

गुरु-मूर्ति सम्मुख है, दाएँ कभी बाएँ है,
वह है अतीत, वर्तमान या भविष्य है।
जहाँ जैसी भावना है, मूर्ति वहाँ वैसी है,
एक एक अक्षर की पूरी वर्णमाला है।
एक से अनेक, और हो अनेक एक से,
पूरी वर्णमाला की अवोप ध्वनि एक है।

एक सरिता में हैं अनेक सिंधु गिरते,
नश्वर है लक्ष्य और शाश्वत सु लक्षी है।
नश्वर को बार बार शाश्वत बुलाता है,
छाया बस लीन हो ले मूल वस्तु रूप में।

साधना औ' साध्य के दो तट हैं खुले हुए,
दोनों हीं के बीच में है संधि-रेख गुरु की।

एकलव्य सुनता है दूरागत ध्वनियाँ,
कौन उसे लक्ष्य वेध के लिए बुलाता है।
कितने दिवस, मास, बीते चले जाते हैं,
स्वप्न सत्य के अनेक पट उठ जाते हैं।

नभ की दिशाएँ चौगुनी-सी हुई जाती हैं,
सीमा हीन की भी सीमा दृष्टिगत होती हैं।
वस्तुएँ नवीन रूप रस कर आती हैं,
उनके समक्ष वह भी नया-सा होता है।

उठतीं तरंग चारों ओर हैं समय की,
चन्द्र के समान गुरु स्वयं प्रतिबिम्बित
हो रहे हैं। कालिमा जो दीखती है बीच में,
वह तो विशाल बाहु में सजा धनुष है।

गुरु के न आने लक्ष्य कितने सधे हुए,
देखता है एकलव्य निज रोम रोम में।
एक लक्ष्य मृत्यु से भी अधिक संक्षिप्त है,
दूसरा विशाल जैसे जन्म का विस्तार है।

तर्क से भी पैना और द्रुत कल्पना से भी,
तीर चलता है जैसे भाग्य की प्रगति है।

एकलव्य की भी साधना प्रशस्त होती है,
लक्ष्य वह लेता वर्तमान में भविष्य का।
निम्नता से उच्चता का गौरव घटाता है,
बाण ऐसा तीक्ष्ण है कि काल कट जाता है।

चाप से जो बाण छूटते हैं, वे अनन्त हैं,
जैसे वस्तुओं के बीच आग लग जाती है।
लक्ष्य-वेध करके वे ऐसे लौट आते हैं,
जैसे प्राण लौट लौट आते पुनर्जन्म में।

नई-नई बाण-विधा नए-नए रूप से,
गुरु के अनन्त संकेत पा के जागती है।
जैसे लघु आशा के संभावित संकेत से,
संख्यातीत कामनाएँ उर-बीच उठतीं।

चक्राकार वर्तुल समान गति रेख ले,
बाण इस भांति निज लक्ष्य पर जाते हैं।
जैसे नाना रूप लिए संध्या के बादलों में,
लाल रंग करता प्रवेश भिन्न कोणों से।

धनुर्वेद-साधना में अन्तर्व्यापी ज्ञान से,
नए-नए धनु और नए-नए बाण हैं।
एकलव्य ने न जाने किस अंतर्दृष्टि से,
निर्मित किए हैं गुरु मूर्ति के समक्ष ही।

तीन, पाँच, सात और नव नव पर्व के,
चिक्कण, सुदृढ़ लचकीले धनुर्दण्ड हैं।
चन्दन, शाल, शाल्मलि के काष्ठ-कोदण्ड हैं,
अथवा शरभ और महिष के शृंग के।

आकर्षण, विकर्षण या कि पर्याकर्षण,
अनुकर्षण या मुक्त मण्डलीकरण हो।
पूरण हो, स्थारण हो या कि आसन्नपात,
दूरपात, पृष्ठपात द्वारा लक्ष्य-वेध है।

एकलव्य ने अनेक धनुष बनाए हैं,
यौगिक, क्रिया, शलाका, वर्तुल, ज्याघाती हैं,
श्रमिक, साम्रामिक है, दूरपात क्षम हैं,
दृढवेध हैं, विकर्ष और दीर्घफल हैं।

युग-शत पल-पूर्ण यौगिक धनुष में,
दो सहस्र पल वाले दीर्घफल धनु में,
एकलव्य का अभ्यास नित्य के अभ्यास से,
चलता है दिव्य धनुर्वेद के विधान में।

तीन तीन अंगुल पै कोटियाँ धनुष की,
कामिनी की भ्रू लता की भाँति गतिशील हैं।
लंबी प्रत्यंचा जैसे विस्तृत कथन सा है,
और लक्ष्य-वेध जैसे चुम्बन प्रखर है।

पृथु ग्रीवा, सूक्ष्म सिर, तनु-मध्य सम है,
वर पृष्ठ, चार किष्कु प्राशु देह - दीप्ति है।
दीर्घ जिह्व, दृढ दष्ट्र रक्ताभा - सी प्रत्यचा,
प्राप्त कर जैसे एकलव्य ही धनुप है।

अज, मृग, महिप की तॉत तिहरी बटी,
रज्जु-परिवेष्ठित सुचिक्कण, समान है।
तृण, नीवार या गवेधु वेणु तन्तुओं से,
धनु की प्रत्यचा ग्रथि-हीन शब्दवाली है।

पीत, नील वर्णवाले शर है अनेकश
पूर्ण परिपक्व ग्रथिवाले युग हाथ के।
काण्ड की कनिष्ठिका ज्यों बढ कर लबी है,
जो कि लक्ष्य-वेध का सकेत करती - सी है।

अग्रभाग स्थूल नारी-वाण दूर लक्ष्य में,
पृष्ठ भाग पुष्ट पुस-वाण दृढ वेध में।
और पुस-हीन सम-वाण सूक्ष्म वेध में,
होते हैं प्रयुक्त एकलव्य के अभ्यास में।

काक, क्रौंच, गिद्ध, चक्र, कक या कपोत के,
पक्ष-लगे वाण सीधे लक्ष्य पर जाते हैं।
वायु पर तैर कर सतुलित भार से,
खग त्यक्त होकर भी खग बन जाते हैं।

आरामुख-बाण फल से कुन्तल है छिदी,
धेनु-पुच्छ लक्ष्य वेध में महा प्रवीण है।
गत नाण काटने को ही क्षुरप्र फल है,
कारण्ड काटने में अर्द्ध चन्द्र ही कुशल है।

सूची-मुख सूक्ष्म वध में ही नियोजित है,
भल्ल से विशाल लक्ष्य मुख खोल देता है।
वत्स-दन्त चर्वण है करता लताओं का,
कर्णिक से दृढ़शिला चूर-चूर होती है।

आलीढ, प्रत्यालीढ, हो विशाख, समपाद,
असम, गरुड़ क्रम या दर्दुर-क्रम हो।
पद्मासन हो कि कोई अन्य ही स्थानक हो,
एकलव्य क्रम से कुशल हुआ सब में।

गुण-मुष्टि में प्रत्यचा का प्रयोग ऐसा है,
सिंह कर्ण, वज्र मुष्टि, मत्सरी, पताका हो।
या कि काकतुण्डी सूक्ष्म लक्ष्य में प्रयुक्त हो,
गुण मुख से प्रत्यचा भैरवी रवी बनी।

धनु के सधान-मध्य धनुर्मुष्टि ऐसी है,
विशिख दूर फेंकने में अध - सधान था।
ऊर्ध्व सधान दृढ वस्तु वेधने को उठा,
सम - सधान ही है अचल लक्ष्य लेने को।

धनु खींचने में एकलव्य की निपुणता,
धीरे धीरे बढ़ी ꠰याय पूर्ण सिद्ध हो गया।
कौशिक-न्याय था कि ज्या खिंचेगी केश तक,
वत्स - कर्ण में ꠰त्यंचा कर्ण तक आवेगी।
ग्रीवा तक खींचने में भरत-न्याय सिद्ध,
और स्कंध - नाम। में है कर्षण स्कंध तक।

स्थिर लक्ष्य लेके स्थिर - वेधी एकलव्य है,
वेधी चल लक्ष्य में चलायमान वस्तुएँ।
चलाचल - लक्ष्य में स्वयं चल अचल को
वेधा। द्वय - चल में चलित को सु-चल के।

एकलव्य - साधना थी शुक्लपक्ष - चन्द्रिका,
प्रतिदिन जिसका विकास होता जाता है।
कुम्भकार - चक्र के समान बाण छूटते
धनुर्वेद घट के ꠰समान उठा आता है।

एकादश सर्ग

स्वप्न

एकादश सर्ग



प्रकृति में क्रान्ति है। अशान्त आधी रात है।
झोंके झूमते हैं। तरु - पत्र हाहाकार में
दूर से पुकारते हैं, 'सावधान, द्विज हे!
पक्ष जर्जरित हो न वात के प्रसंग में।'

अंधकार की असीम कालिमा के क्रोड़ में,
क्रूरता का कोश लिए घन घिर आये हैं।
घूम - घूम घूरते हैं, घिरते दिशाओं में,
मायावी निशाचरों - से छोटे - बड़े होते हैं।

नभ में प्रचंड ध्वनि जैसे चूर - चूर हो,
छिटक गई है दूर-दूर की दिशाओं में।
जैसे नभ खंड खंड होके टूटता सा है,
विद्युत् - तड़प में दरार दीख जाती है।

सहसा ही नींद टूटी आर्य गुरु द्रोण की,
बैठ गए शैया पर कुछ सोचते हुए —
'मैंने यह कैसा स्वप्न देखा है प्रत्यक्ष-सा।
जिसे सोच सोच मन निभ्रमित होता है।

प्रकृति अशान्त कैसी पूर्व ब्राह्म-वेला में !
वायु के अनेक झोंके शब्द करते हुए
कैसे टकरा रहे हैं वीरुधों की डालों से।
जैसे स्वप्न आके टकरा रहा है मन से।

चिन्तनाकाश क्यों भरा विचार-वारिदों से ?
जोकि रोम-रोम में प्रतिध्वनित होते हैं।
तीव्र प्रेरणा की रेख विद्युत् की रेख में
खिच खिच उठती है भावना की कोर में।

कितना विचित्र स्वप्न मैंने यह देखा है !
पीपल के पत्र सा चलित दृश्य - जाल है।
दृष्टि के समक्ष कभी दृष्टि से तिरोहित
होता रहा जैसे नद है गिरि शिखर का।

एक स्वप्न सपुट में सृष्टि इतनी बडी
देख डाली जैसे एक छोटे से दर्पण में
पर्वत - सा गज प्रतिबिम्बित हो जाता है,
या कि छोटे मन्त्र में अनन्त शक्ति होती है !

एक है भयानक अरण्य घने वृक्षों से,
भूमि है कसी हुई सी जैसे कर्म काण्ड की
जटिल क्रियाओं मध्य धर्म बँध जाता है
और किसी पान्थ का प्रवेश नहीं होता है।

फिर भी कुमार ही है। किसी वीर माता ने,
साधना का मानवीकरण बाल - रूप में
प्रस्तुत किया है, किन्तु ऐसे घोर वन में,
भेज क्यों दिया है, ऐसे वीरवर पुत्र को।

केश में सजे नवीन पारावत - पत्र हैं,
जैसे बहुरंगी दल हैं ये धनुर्वेद के।
उच्च भाल, नासिका नुकीली, भौंहें वक्र हैं,
नेत्र बड़े, दृष्टि तीखी, जैसे वह दृष्टि ही—

विविध शराग्र - नोकों की बनी नीहारिका,
जोकि मेरे पद से खिंची लक्ष्य बिन्दु तक।

कौन है कुमार यह? मैंने इसे देखा है!
कब इसे देखा, स्मृति स्पष्ट नहीं होती है।
देखा है अवश्य इसे, शिक्षा दान वेला में,
देख के भी देखा नहीं, ऐसा ज्ञात होता है।

किन्तु उस वन में न जाने क्यों आकृष्ट हो,
निर्विकार रूप से मैं स्थाणु बना बैठा हूँ।
और दे रहा हूँ ऐसी शिक्षा उस वत्स को,
जैसी किसी शिष्य को न आज तक दे सका।

कितना समर्पण है वन के कुमार में!
प्रार्थना में डूबा हुआ जैसे रोम - रोम है!

मन ही सुमन वन भक्ति की सुगंधि से,
सज्जित है मेरे युग चरणों के सामने।

किसने बनाई मेरी मूर्ति ? उसी वीर ने ?
कैसी यह लालसा है ? यह श्रद्धा कैसी है ?
जिससे कि मूर्ति मेरी शक्ति लिए बैठी है,
और मैं भी जागरूक हो गया हूँ जड़ में ?

यहाँ और वहाँ दोनों स्थानों में जीवित हूँ,
ऐसी क्या विचित्र मेरे जीवन की स्थिति है।
ऐसी गुरु भक्ति है कि शक्ति से ही शिष्य ने,
एक गुरु को अनेक रूपों में सँवारा है।

विस्मय है। एक द्रोण हस्तिनापुरी में है,
द्रोण दूसरा प्रशान्त वन का निवासी है।
दोनों द्रोण एक ही हैं, एक ही समय में,
साधु ! शिष्य ! तुमने बनाया वस गुरु को !

मूर्ति नहीं, मैं हूँ दत्त चित्त शिक्षा-दान में,
करता संकेत मृत्तिका के जड अंगों में।
खोजते हैं मेरे नेत्र एक-एक लक्ष्य को,
मेरी दृष्टि में ही जैसे बाण उठ जाते हैं।

मेरे सब मन बिखरे हैं वायु-वेग में,
जोकि स्वयमेव सधते हैं बाण-नोकों में।

मेरा धनुर्वेद सारा सिमटा है मूर्ति में,
एक - एक कण से निकलती किरण है।

प्रेरणा सी पैठती है मन में कुमार के,
और वह शीघ्र नए विशिख बनाता है।
नए - नए लक्ष्य वह नए - नए रूप से,
वेधता अनेक गति वाले एक बाण से।
ज्यों श्लेष - अलंकार में प्रयुक्त एक शब्द,
एक बार में अनेक अर्थ कह देता है।

बादलों में लक्ष्य वह इस भाँति लेता है,
बाण-रेखा विद्युत् की रेखा बन जाती है।
बाण दीखता नहीं है, किन्तु लक्ष्य-वेध है,
ज्यों विभावना में बिना कारण के कार्य हो।
पश्चिम का लक्ष्य वेधता है पूर्व बाण से,
जैसे वह एक असंगति अलंकार हो।
या कि परिसंख्या हेतु यदि कहीं ताप है,
तो दिखाई दे रहा है बाणों के प्रताप में।

एक रेखा में अनेक बाण चले जा रहे,
एक रूप है परन्तु भिन्न - भिन्न लक्ष्य हैं।
आगे पीछे या कि वाम-दक्षिण के पार्श्व में,
उनकी चमक है या काव्य का यमक है?

ऊपर के देखने में ही मानो उत्प्रेक्षा है,
लक्ष्य से अभिन्नता में रूपक है सामने।
उपमा जो उसकी दूँ कौरव कुमारों से,
किससे दूँ? अर्जुन से या कि सुयोधन से?

किंतु दोनों हीन हुए दीखते हैं मुझको,
जैसे भक्ति के समक्ष ज्ञान और कर्म हैं।
इच्छा हो रही है, स्वप्न में नहीं, प्रत्यक्ष ही,
फिर उसे देख सकूँ स्नेहपूर्ण आँखों से।

किन्तु कहाँ देखूँ? एक बार फिर स्वप्न में—
लीन होऊँ? किन्तु ब्राह्म वेला तो समीप है।
ब्राह्म वेला-तन्द्रा कुछ ऐसी ज्ञात होती है,
जैसे कर्मनाशा मिल जाय जह्नु जाया में।

शिष्य सभी जागने को होंगे कुछ क्षण में,
नित्य कर्म से निवृत्त होके शीघ्र आएँगे।
शिक्षा - क्रम फिर से चलेगा प्रतिदिन-सा,
किन्तु शिक्षा देने में क्या मन लग पाएगा?

शिक्षा तो समस्त वन-खंड की निवासिनी
हो गई है, और वह वन का कुमार जो—
साधना में निरत हुआ है श्रद्धा भाव से,
बना अधिकारी एक-मात्र मेरी शिक्षा का।

किन्तु यह कैसा अनाचार हुआ मुझ से,
आर्य भीष्म से हूँ नियोजित इस पुर में!
शिक्षा दूँ सदैव इन कौरव कुमारों को,
वेतन का भोगी हूँ, निवास राज गृह है।

अन्य को मैं कैसे शिक्षा दे सकूँगा इच्छा से,
गुरुकुल-स्वामी नहीं राजकुल-सेवी हूँ।
मेरी तो रही है धारणा सदैव, शिक्षा की
वेलि बढ़ती है, जब बन्धन रहित हो।

शिक्षा तो सरस्वती की धारा है, प्रशान्त है,
है अनन्त जो वही है सृष्टि के आरंभ से।
कौन इसे रोक सका और किस मन को,
इसने पवित्र किया नहीं स्पर्श मात्र से?

जाति भेद नहीं, वर्ग-वश भेद भी नहीं,
शिक्षा प्राप्त करने के सभी अधिकारी हैं।
सूर्य की किरण भी क्या जाति भेद मानती?
अग्नि क्या विशेष जीव धारियों की श्रेणी में—
सीमित है? और वायु की तरंग उठती—
केवल विशिष्ट व्यक्तियों को साँस देने में?

फूल फूलते हैं वे न घोषणाएँ करते,
'साधु ही सुगंधि के विशेष अधिकारी हैं।'

और जो असाधु है, समीप जाके उनके
जो सुगंधि है, वही दुर्गंधि बन जावेगी ?

शिक्षा की निवर्णी का पवित्र तीर्थराज तो
सृष्टि में समस्त मानवों की कर्मभूमि है।
प्रतिबन्ध कैसा ? किन्तु यहाँ इस पुर में—
शासित हूँ सर्वदा कठोर राजनीति की
वज्र तर्जनी से मैं ! हा ! कितना विवश हूँ !
होगया हूँ पुष्प मुरझाया - सा कूष्माण्ड का।

हाय रे, अभागे द्रोण ! पिता भरद्वाज के
उज्ज्वल आदर्श तुझे आगे न बढ़ा सके।
किसी गुरुकुल की न स्थापना कर सका,
शिक्षा-दान देने के पवित्र धर्म कार्य में।

गुरु अग्निवेश की तपस्या सब व्यर्थ की,
मैंने ज्ञान क्षेत्र की पवित्र तीर्थ-भूमि में।
धिक् द्रोण ! तेरी सब साधनाएँ मिथ्या हैं,
तेरा धनुर्वेद सूम की संपत्ति-जैसा है।
भार्गव परशुराम यदि सुन पावेंगे,
मैंने शिक्षा सीमित की मात्र राजवंश में।
शूल - जैसा कष्ट क्या न होगा भृगुवंशी को ?
भार्गव ! क्षमा करो, मैं पथ-भ्रष्ट हो गया।

सरला सरस्वती को वाहिका बनाया है,
निज स्वार्थ-शिविका का जिसमें मैं बैठा हूँ।
उसके पवित्र सुकुमार कंधों पर हा!
राजनीति-दण्ड का सहा रहा हूँ भार मैं,
उसको चला रहा हूँ उस ध्वनि-कंठ से
चक्राकार संकुचित राज-वीथियों में मैं।
देवि! क्षमा चाहता हूँ कष्ट जो हुआ तुम्हें,
मैं बना हूँ राजसेवी बस इस लोभ से,
अर्थ-संकटों से मुक्त हो सकूँ मैं सर्वथा।

देवि! तुम जानती हो बाल अश्वत्थामा को,
मैंने है पिलाया चूर्ण चावल का घोल के—
दूध के अभाव में। मैं कितना विवश था!

दूर किया संकट है मेरा आर्य भीष्म ने,
उनका कृतज्ञ हूँ मैं। और राजनीति का
पूर्ण अनुशासन विधेय मेरे हेतु है।
इसलिए क्षमा करो! एक बात और है।

मेरा अपमान किया कितना द्रुपद ने!
मेरा रोम-रोम जलता है उस आग से
आज भी हा! लाञ्छित किया था मुझे कितना,
मेरे शिशु और मेरी पत्नी के ही सामने

भरे राजकक्ष में। मैं किस कठिनाई से,
जीवित रहा हूँ इस ग्लानि - तुषानल में।
मेरे उर में सदैव एक कृत्या राक्षसी,
करती हुकार रही, 'शीघ्र प्रतिशोध ले—
इस अपमान का तू', इस हुकार ही ने
मुझसे कराया प्रण। 'केवल मैं पार्थ को
अद्वितीय धनुर्वेद दूँगा अल्पकाल में।
और कोई शिष्य कभी उसकी समानता,

कर न सकेगा वह ऐसा शिष्य मेरा हो।'
पुत्र अश्वत्थामा जोकि उत्तराधिकारी है
मेरे धनुर्वेद का, रहेगा वह न्यून ही,
क्योंकि एक - मात्र पार्थ क्षत्रिय क्षुरप्र ही—

लेगा प्रतिशोध मेरे इस अपमान का,
इस हेतु पार्थ मेरा अद्वितीय शिष्य है।
अद्वितीय शिष्य किन्तु देखा मैंने स्वप्न में,
कोई एक परिचित श्यामल कुमार है,

जोकि धनुर्वेद में प्रवीण हुआ ऐसा है,
पार्थ भी समानता में हार मान जाएगा।
और है विचित्र बात कुतूहल से भरी,
मैं ही उसे शिक्षा दे रहा हूँ धनुर्वेद की।

पार्थ को अजेयता - प्रदान की प्रतिज्ञा जो,
मैंने की है, तोड़ रहा मैं ही उसे स्वप्न में।
क्या मैं यह सोचूँ इस स्वप्न के प्रकाश में,
जागरण - द्रोण और स्वप्न - द्रोण भिन्न हैं?

जागरण और स्वप्न, स्वप्न और जागर

'जय गुरुदेव!'

'कौन?'

'पार्थ, शिष्य प्रभु का!'

'पार्थ! प्रिय शिष्य! तुम आ गए हो? कब से?
अभी तो विलम्ब कुछ होगा ब्राह्म - वेला में?'
'देव! है विलम्ब, किं तु आज रात्रि-भर मैं
नम - वेध - लक्ष्य साधना रहा हूँ सेवा में।
भवन नहीं गया, रहा पुनीत गृह में,
किन्तु देव जागते हैं चिं ता किस बात की?
आज्ञा मुझे दीजिए, मैं शीघ्र पूर्ण करके
निज को कृतार्थ समझूँगा। क्या द्रुपद की ?'

'नहीं, नहीं, पार्थ! मुझे चिन्ता किस बात की?
द्रुपद की बात एक धूमिल सा चिन्ह है,
जो तुम्हारे बाण भर देंगे रक्त - रंग से
वह गत बात है।'

'तो देव ! चिन्ता कैसी है ?
बोझिल है वाणी क्यों ? पुनीत ब्राह्म-वेला में ?
कोई दु:स्वप्न देखा ?'

'सत्य कहते हो, पार्थ !
एक स्वप्न देखा है विचित्र रूप-रेखा का,
इतना सजीव है कि सत्य से प्रखर है !
एक-एक स्वप्न जैसे सृष्टि का सृजन है
जोकि क्षण-क्षण में यथार्थ रूप लेता है !'

'देव के तो स्वप्न सत्य बनते ही आए हैं,
कैसा यह स्वप्न है ?'

'सुनाऊँगा तुम्हें कभी।
किन्तु यह जान लो, कि दूर किसी वन में,
पास वट-वृक्ष के किसी कुमार शिष्य की,
धनुर्वेद-साधना की सिद्धि पूर्ण हो रही।'

'सिद्धि पूर्ण हो रही ? हे देव ! किस शिष्य की ?
आपके ही शिष्य की या अन्य किसी गुरु के ?'
'एक से ही गुरु हैं सदैव सच्चे शिष्यों के।'

'देव ! प्रतिद्वन्द्विता करेगा शिष्य आपका,
सहन करेगा नहीं दास किसी धन्वी को।
कष्ट कर कृपया बतावें किस वन में,

साधना बनी है सिद्धि ?'

'ज्ञात मुझे है नहीं।
भान होता इतना कि एक घने वन में,
वट वृक्ष के समीप पूर्व दिशा-कोण में
एक लघु आश्रम है '

'देव हे! क्षमा करें,
वारणावत के समीप घने वन में ही
वट-वृक्ष स्थूल और ऊँचे कहे जाते हैं।
सभव है, आश्रम वहीं हो, यदि आज्ञा हो,
देव के प्रस्थान का प्रबन्ध करूँ आज ही!'

'साधु! सोच लूँगा यह, तुम यदि मृगया
खेलने के इच्छुक हो, तो उसी अरण्य में
अनुमति देता हूँ तुम्हें वहाँ ही जाने की।
जाओ भृत्य साथ लेके, देखो उस वन को,
सभव हुआ तो मैं चलूँगा साथ-साथ ही।
नाक्ष-वेला हो गई है, जाओ, पार्थ! शीघ्र ही
अग्निहोत्र की व्यवस्था देखो, कक्ष-कक्ष में।
अश्वत्थामा साथ रहे -'

'जैसी आज्ञा प्रभु की।'
पार्थ ने प्रणाम किया आर्य गुरु द्रोण को।

तेजोमय शुक्र के समान वीर पार्थ ने,
मस्तक उठाया, देखा—शेष हुई रात है।
किन्तु नक्षत्र कोई प्रभावान उज्ज्वल है,
जिसका प्रकाश ही भविष्य का प्रभात है!

द्वादश सर्ग

लाघव

द्वादश सर्ग



नूतन दिवस था। उषा की नव रश्मि ने,
देखा निज ज्योति के समान नव बाणों से
कितने तूणीर पार्थ ने किए सुसज्जित,
और मृगया के लिए वह व्रत सिद्ध है।

नए नए धनुष, कृपाण, चर्म, शूल हैं,
पार्थ है प्रवीण पूर्ण जिनके प्रयोग में।
किन्तु कोई शस्त्र नहीं उसके समीप है,
जोकि रोक सके सिद्धि स्वप्न के कुमार की।

बार-बार सोचता है, वह कौन शिष्य है,
जोकि गुरुदेव को भी लीन करे चिन्ता में?
बोझिल थी वाणी ब्राह्म-वेला में भी उनकी,
वह अल्प वार्तालाप कितना गंभीर था!

कितने गंभीर शब्द थे, रहस्य से भरे,
'एक से ही गुरु हैं सदैव सच्चे शिष्यों के।'
'एक से ही गुरु!' कौन गुरु आर्य द्रोण-सा!
और शिष्य कैसा, जो कि सिद्धि के समीप है!

'सच्चा शिष्य!' मुझसे भी सच्चा शिष्य कौन है ?
रहता हूँ गुरु के समक्ष प्रतिक्षण में,
और वह शिष्य कैसा जो न दृष्टि आया है ?
क्या प्राचीन शिष्य ? नहीं-नहीं, ऐसा है नहीं।

गुरुदेव कहते हैं, शिष्य है कुमार ही,
किन्तु वह कैसा शिष्य ? जो कि गुरुदेव के—
स्वप्न क्षेत्र में सदा धनुर्वेद सीखता है,
कैसे हो प्रत्यक्ष लघु ? कैसे मिले गुरु से ?

वन वारणावत में किसी वट-वृक्ष के,
नीचे वह साधना है, ऐसा ही तो स्वप्न था!
पूर्ण-काम ऋषियों के स्वप्न सत्य होते हैं,
तो फिर करूँगा मृगया में उसी वन में।

आज्ञा प्राप्त हो ही गई पूज्य गुरुदेव की,
मृगया की आज्ञा, किन्तु मेरा मृग भिन्न है।
देखूँगा वाराह, गज, नाग, वनराज के
पीछे कौन वन का वनेश बना बैठा है!

देखूँगा कि कौन है जो मेरा प्रतिद्वन्द्वी है!
शिष्य किस गुरु का है और कैसी साधना—
करता है, जिससे स्तम्भित गुरुदेव हों!
और मैं नगण्य सा प्रतीत होऊँ शिक्षा में!

सिद्धि निज धनुर्वेद की तभी मैं मानूँगा,
जब विश्व के समस्त धन्वी नत जानु हों।
मुझको करें प्रणाम

'करता प्रणाम हूँ।'
भीम ने स-हास कहा आते हुए पीछे से।
'भाई महावीर भीम!'—

अर्जुन ने पार्श्व में
देखा और लज्जित हो दृष्टि नीचे कर ली।
'अर्जुन ही करता प्रणाम है श्री-सेवा में।'
पार्थ ने प्रणाम किया दोनों हाथ जोड़ के।

'कितने ही धनुदण्ड आपकी गदा में हैं,
श्वान दण्डाघात के ही पूर्व मुख फाड़ के
जैसे चीत्कार करता है उसी भाँति, देव!
वर्तुल हुआ है धनु निज जन्म काल से—
देख कर आपके महान् भुजदण्डों को।'
'स्वस्ति! रहने दो तुम मेरे भुजदण्डों को,
प्रत्यञ्चा-सी इनमें कसो न किसी स्तोत्र की।
मृगया के हेतु सभी प्रस्तुत हैं, तुमको—
देखा नहीं, इससे मैं खोजते हुए यहाँ,
आया और देखा तुम्हें बातें करते हुए।

अपने से 'स्वगत - कथन' अच्छे रूप में,
तुम कर लेते हो, सफल नाट्य - शिल्पी हो।
यह भी विधान क्या लिखा है धनुर्वेद में?
धनुर्वेद - पूर्व नाट्य वेद होना चाहिए।
अट्टहास गूँजा वायु-मंडल में दोनों का,
जैसे काम - हीन अर्थ - धर्म मिलें मोक्ष से।

२

वन वारणावत में मृगया अभियान,
पूर्णोत्कर्ष पर है, वीरवर पाडुपुत्र—
नए नए आयुध लिए हुए उत्साह से,
विचर रहे हैं वन भूमि में मृगेन्द्र से।
द्वादश विभाग किए उस वन - भूमि के,
कहीं हैं अकेले, कहीं युग्म में बली बने।
राजपुत्र केन्द्र या त्रिकोण में विन्यस्त हैं,
वन-भूमि मानो मृगया का जन्म - चक्र है।
कहीं उच्च हुए और कहीं नीच स्थिति में,
पूर्ण दृष्टि डाल रहे हैं वे स्वक्षेत्र पर।
और कहीं स्वयं स्वक्षेत्री बने शक्ति द्वारा,
हो रहे प्रहर्षित हैं निज - निज अंशों में।
हाथ में धनुष, प्रत्यञ्चा कसी है जिस में,
शर का संधान है आकस्मिक लक्ष्य पर।

दूर की दिशा में यदि शब्द उत्पन्न हुआ,
वाण अर्थ के समान व्यक्त वहीं होता है।

जब राजपुत्र उग्र वेग से प्रधावित,
होते हैं तो उरु-वेग के उठे समीर से
सारा वन-प्रान्त घूमता सा ज्ञात होता है,
लता-वेलि वृक्ष जैसे चलते हैं कक्षा में।

चले जिस मार्ग पर कुश और काँटे भी,
टूट कर भूमि पर ऐसे बिछ जाते हैं,
जैसे वित्तवान व्यक्ति की विशेष वक्रता,
शक्रता में शीघ्रतम परिणत होती है।
पुष्प और फल से लदे हुए जो वृक्ष हैं,
वे भी अभियान-उग्रता में टूट जाते हैं।
जैसे वीतरागी की उग्र तप-साधना में,
नारी-पुत्र-पूर्ण परिवार व्यर्थ होता है।

गिरि-शिखरों के मध्य या कि कन्दराओं में,
राजपुत्र आयुध ले ऐसे घुस जाते हैं,
जैसे दस इन्द्रियों में विपर्यैषणा लिए,
मन क्षिप्र गति से प्रवेश कर जाता है।

वन में वराह विकराल उठे दंष्ट्रों से,
फाड़ने को जंघा आक्रमण-कारी मुद्रा में।

'घुर - घुर' शब्द से गुंजाता गिरि - गह्वर,
दौड़ा अग्नि - दृष्टि की लकीर खींचता हुआ।

भीम ने उछल कर खींचा उसे पार्श्व से,
दोनों बाहुओं में उसे मोड़ कर उलटा।
वायु में उछाल पद का प्रहार शक्ति से,
ऐसा किया मध्य - भाग टूटा ग्रंथि - ग्रंथि से।

काले अभ्रों - सा भालु टूटा सहदेव पर,
दांत की चमक विद्यु - रेखा जैसी चमकी।
खींच कर भल्ल इस भांति उस वीर ने,
फेंका लक्ष्य लके वह आर - पार निकला।

व्याल विकराल फन छत्र जैसा तान के,
लेता फुफकार विष - ज्वाल जैसा उछला।
शल्य के प्रयोग में प्रवीण श्री नकुल ने,
कील दिया भूमि से ही कुण्डलीकृत हुआ।

मत्त गजराज धर्मराज के समक्ष हो,
दौड़ा शुण्ड ऊँचा किए तीव्र चिंघाड़ कर।
युग दन्त जैसे काल के कराल कुन्त हैं
उल्कापात के समान आगे बढ़े आते हैं।

पैर की धमक से धरा धँसी - सी जा रही,
गण्ड - स्थल - घर्षण से वात झंझावात है।

ठोकर से खंड-खड हो रहे पाषाण हैं,
और वृक्ष चरमर टूटते हैं मूल से।

धर्मराज ने दुर्द्धर्ष समझाय खड्ग ले,
दर्दुर क्रम से स्थान शीघ्र लिया सामने।
चल-लक्ष्य ऐसा लिया चचला की गति से,
हस्ति-शुण्ड तीन खड होके भू-लुठित सा—

रक्तिम अजगर की भाँति वक्र हो गया।
और गजराज घूमा चीत्कार करता-सा,
जैसे गिरि-शृंग एक टूटा खड-खड हो,
देर तक गिरि की गुहाएँ गूँजती रहीं।

और वीर पार्थ देखता है मृगराज को,
जिसकी दहाड़ से पहाड़ काँप जाते हैं।
गर्वीली चाल से उतरता गिरि-शृंग से,
जहाँ देखता है अग्नि लौ-सी बल खाती है।

झूम कर झुकता है झाड़ी झाँकता हुआ,
लेता है उछाल तरु-जाल झुक जाता है।
डाल-डाल बोझ से तड़ाक टूट जाती है,
और वह घूरता है अंगारक आँखों से।
पार्थ ने टंकार छोड़ी धनुष-प्रत्यञ्चा की,
देखा मृगराज ने कि धृष्टता की सीमा है।

गौरव से गर्जना की मानो घोषणा की हो —
'वन में, श्री वनराज युद्ध में प्रवृत्त हैं।'

आक्रमण आँखों में, सु - रक्त स्वाद मुख में,
पुष्ट मांस - पेशियों में शक्ति का संचार है।
गति में प्रचंड झंझावात वाली उग्रता,
और गुरु गर्जन में अशनि - निपात है।

पूँछ उठी जैसे वह काल का प्रतोद है,
लोहितास्य जैसे रक्त - भरा मृत्यु - कूप है।
डाढें दीख पड़ीं जैसे खिंचे वज्र - खंड हैं,
और झुके नख जैसे वृश्चिकों के डंक हैं।

एक थी दहाड़, कण - कण काँप है उठा!
वज्र के समान टूटा पार्थ पर सहसा।
धूल उड़ी चारों ओर धूमिल दिशा हुई,
और व्याघ्र - गति से समीर मथ - सा गया।

पार्थ ने गरुड़ - क्रम - मुद्रा क्षण - मात्र में,
लेकर चलाया अर्द्ध - चन्द्र बाण वेग से।
अर्द्ध मुख काट दिया धनुर्वेद - क्रीड़ा में,
जैसे मृत्यु देवि को बना दिया अर्द्धांगिनी।

व्याघ्र तीव्र क्षत से दहाड़ उठा भूमि में,
नष्ट - भ्रष्ट जैसे हो गईं दिशाएँ क्षण में।

पूँछ के प्रहार से प्रताड़ित भू - खण्ड था,
और नखाघात से पाषाण चूर - चूर थे।

वत्सदन्त बाण संधान किया अर्जुन ने,
कर्त्तन किया तुरन्त उठी हुई पूँछ का।
व्याघ्र ने दहाड़ कर पुन शेष शक्ति से,
पार्थ - सर्वस्वान्त करने को एक बार ही,
प्रबल प्रचण्डता से काल - सी उछाल ली,
शक्ति ने ही व्याघ्र का प्रबल रूप ले लिया।
पार्थ का धनुर्दण्ड टूट गया क्षण में ही,
शीघ्रता से भल्लमुख-बाण लेके हाथ में,

दायाँ पैर आगे कर प्रत्यालीढ़ मुद्रा में,
फाड़ दिया व्याघ्र का उदर द्रुत गति से।
व्याघ्र की दहाड़ उत्तरार्द्ध में कराह थी।
अंतिम कराह थी दिशाएँ मौन हो गईं
जैसे, वनराज के प्राणान्त पर शोक से
सारी वन - भूमि स्थिर, मौन, निरुपाय थी।

टूटे धनु - खण्ड को उठाते हुए पार्थ ने,
एक मौन दृष्टि डाली वनराज पर भी।
और तर्जनी का रक्त बिन्दु पोंछते हुए,

सोचने लगे कि 'यह मृगया क्या व्यर्थ है ?

मैंने वन्य पशुओं को मार कर अन्त में,
इस वनराज को भी खोज कर मारा है,
किन्तु किस कोण में छिपा मृगेन्द्र वह है,
जिसे खोजने को हुई मृगया की योजना ?

सूर्य ढलने को हुआ, सन्ध्या शीघ्र आएगी,
तम क्या घिरेगा अवसाद - भरे मन में ?'

२

सन्ध्या हो रही है। द्रोण हैं वन शिविर में
चिन्ता-मग्न हो उठे हैं—

'राजपुत्र मृगया
खेल कर लौटे नहीं। पार्थ अभिमान से
कहके गया था—' शीघ्र लौट कर आऊँगा।
श्रेष्ठ वनराज ही बनेंगे लक्ष्य बाणों के,
किन्तु मेरे लक्ष्य में रहेगा वह शिष्य भी,
जो कि वट वृक्ष के समीप इसी वन में—
मेरे लक्ष्य - वेध का प्रवीण लक्ष्य - वेधी है।'
पार्थ भी न लौटा। वह होगा कहीं श्रान्त सा ?
रात्रि में भी मृगया में व्यस्त रहेंगे सभी,
सब राजपुत्र भूख प्यास से हो पीड़ित!

किस वन खंड में विश्राम लेने जाएँगे ?
कन्द मूल से बुझेगी भूख कैसे वीरों की।
मृगया में सबल तो पद-पद चाहिए।'
राजगुरु ने बुलाया वनाभिज्ञ भृत्य को,
उसको आदेश दिया—'भोजन सामग्री ले,
शीघ्र जाओ वन में, कुमारों की श्री-सेवा में,
और उन्हें भोजन कराओ श्रद्धा भाव से।
थक गए होंगे सभी, अतिकाल हो गया,
कहना कि 'राजगुरु की सभी को आज्ञा है।
वे करें आहार और मृगया समाप्त हो।'
मैं प्रतीक्षा में हूँ अति व्यग्र हो शिविर में,
और सुनो—साथ लो आखेट-श्वान अपना,
वह भी रहेगा साथ, पता शीघ्र पाओगे।
घ्राण शक्ति श्वानों में विशेष तीव्र रूप से
होती है, वे स्वामी को सहज खोज लेते हैं।
जाओ शीघ्र।'
'जैसा राजगुरु का आदेश हो।'
शीघ्र उस भृत्य ने सजाए मिष्ठ व्यंजन,
बड़े-बड़े थालों बीच और वहीं साथ में,
दास दो लिए जो चले, कंधों पर थाल ले।

घ्राण - शक्ति का कुबेर आखेटक श्वान भी,
साथ साथ भृत्य के चला चपल गति ले।

गुरु द्रोण दूर तक अनिमेष दृष्टि से,
देखते रहे कि भृत्य दास और श्वान ले
जा रहा वनान्त में बड़ी ही तीव्र गति से,
जैसे स्नेह - सूत्र बढ़ता है मोह-जाल में।

श्वान चला जा रहा है भूमि सूँघते हुए,
पीछे जा रहे हैं भृत्य, दास बँधे सूत्र से।
कौन जाने राजपुत्र सभी किस वन में,
लीन मृगया में हैं, विलीन है दिशाओं में।

सूर्य गतिशील हुआ पश्चिम की ओर है,
और सूचना नहीं कि किस ओर जाना है।

एक वन पार किया, दूसरा निकट है,
उसमें प्रवेश किया शीघ्र पद गति से।
पूर्व की अपेक्षा वह और भी सघन है,
मार्ग झाड़ियों में छिपा, दृष्टि में न आता है।

भृत्य और दास बढ़े जा रहे हैं गति से,
श्वान कुछ आगे, कुछ और आगे, क्रमश
जा रहा है घ्राण लेता, चारों ओर देख के,
जैसे वह जानता है इच्छा आर्य द्रोण की।

रवि की सुवर्ण-रश्मि तिरछी हो, वृक्ष की
डालियों से छनती हुई गिरी है वन में।
जैसे वन की कँटीली झाड़ियों के तम को,
दिखला रही हैं नृत्य रश्मि की कुमारियाँ।

भृत्य और दास पीछे, दूर पीछे हो गए,
श्वान चढ़ता है जैसे मार्ग परिचित है।
जा रहा है दाएँ और बाएँ देखते हुए,
जैसे स्वर चलता है मात्रा-युक्त छ़ंद में।

कौन जानता है, किन - किन वन पथों से,
किन - किन झाड़ियों को पार किया श्वान ने।
किन वन - खण्डों में प्रवेश कर निकला,
और जा रहा है किस नए वन प्रान्त में।

एक ओर श्वान देखता है काष्ठ - दण्डों से
सीमा खिंची एक पुण्य आश्रम की मध्य में।
बीच में उटज है जो साल - वृक्ष - काण्डों से,
सुदृढ़ खड़ा है। एक मृत्तिका की मूर्ति है।

उसके समक्ष एक श्याम वर्ण वीर है,
जो प्रणाम करता है बार-बार मूर्ति को।
उसका धनुष खिंच खिंच द्रुत गति से,
बाणों का प्रहार करता है क्षण क्षण में।

क्या यही है आश्रम उस धन्वी कुमार का?
जिसे पार्थ दिन भर मृगया में रत हो
खोज सका नहीं और इस तुच्छ श्वान ने
निज लघु यात्रा में ही खोज लिया सहसा?

एकलव्य - आश्रम यही है, सिद्धि - स्वामी हो,
एकलव्य शब्द-वेध में प्रवीण वीर है।
करता प्रहार है अमोघ तीक्ष्ण बाणों का,
जैसे वीर - रस में कुशल कामदेव है।

श्यामवर्ण का कुमार सलदिग्धाग बना,
साधना में निरत, न क्षण अवकाश है।
करता है बाण का प्रयोग इस विधि से,
एक बाण लक्ष्य तक रेखा - रूप दीखता।

जटाजूट शीश पर, कृष्णाजिन तन में,
पूर्ण नख - शिख से मनुष्य रेखा कृष्ण है।
जैसे विश्व - लोचनों में अंजन की रेखा है,
दृष्टि के समान धनुर्वेद गतिशील है।

देख ऐसे कृष्ण-वर्ण साधक कुमार को,
श्वान चौंक उठा, कर्ण युग उठे उसके
और पास जाके वह अति तीव्र रोष से,
भौंकने लगा स्थान बदल बदल कर।

भौंकता ही रहा, एकलव्य ध्यान मग्न है,
साधना में डूबा, दृष्टि लक्ष्य में ही लीन है।
भान हुआ श्वान का उसे उस क्षण में ही,
जब श्वान मूर्ति के समीप भौंकने लगा।
बाण रोका। देखा श्वान को स दय दृष्टि से,
और बोला—

'वीर श्वान! शब्द - लक्ष्य ठीक है।
किन्तु मेरे गुरुदेव योग - ध्यान - मुद्रा में
लीन हैं, न भौंको तुम उनके समीप हो।
प्रार्थना करोगे यदि तुम मौन दृष्टि से,
जैसी प्रार्थना मैं करता हूँ निशि दिन ही।
तुम लक्ष - साधना में सत्य सिद्धि पाओगे,
पूर्ण होगा शब्द लक्ष्य गुरु के सकेत से।'

श्वान भौंकता ही रहा। एकलव्य ने कहा —
'श्वान! तुम युग्र और मवत्र की भांति हो।
कैसे तुम बुद्धि-हीन कार्य किए जाते हो?
शान्त रहो। साधना में मौन बड़ा बल है।

भौंकते रहोगे? तब बाणों के प्रयोग से,
मैं तुम्हारा शब्द - लक्ष्य भ्रष्ट कर देता हूँ।
मुख से न किंचित् भी शब्द कर पाओगे,

मुख में तुम्हारे, मेरे बाण कस जाएँगे।

किंतु एक बूँद रक्त निकल न पावेगा,
एक क्षत भी न होगा, मुख और जिह्वा में,
कुछ क्षण के लिए तुम्हारा यह मुख ही
बन जाय मेरा शर - तूर्ण पूर्ण लज्जा से।'

श्वान पुन भौंका और एकलव्य लक्ष्यी ने,
सात बाण शब्द लक्ष्य लेके छोड़े धनु से।
बाण इस विधि से चले कि श्वान मुख में
कस गए, बिना क्षत किए निज गति में।

था विचित्र लाघव, जो एक क्षण-मात्र में
श्वान शब्द हीन हुआ, अति असहाय था।
यत्न करने से बाण निकले न मुख से,
जैसे बाण-युक्त मुख श्वान का था जन्म से।
कस गए बाण ऐसे उस श्वान-मुख में,
जैसे विषयी में वासनाएँ कसी होती हैं,
या कि व्याकरण में निबद्ध गूढ़ - सूत्र हैं,
अथवा दरिद्र में प्रगाढ कामनाएँ हैं।

भृत्य और दास अब आ गए समीप ये,
चकित थे वे भी इस कौतुक को देख के।
श्वान रुका नहीं, वह अति तीव्र वेग से,

मुख नभ ओर किए भागा घने वन में।

निकले हुए थे बाण - पख श्वान - मुख से,
सप्त रंग वाले सप्त शर पख क्रम से।
दीखते थे ऐसे उठे हुए श्वान - मुख में,
जैसे वह इन्द्रधनु मुख में दबाए है।

श्वान शीघ्र पहुँचा जहाँ चिंतित पार्थ थे,
उनके पदों में वह बैठ गया दीन - सा।
क्रन्दन स्वर अल्प भी निकाल पाया नहीं,
बाण-युक्त मुख ऊँचा किए असहाय था।

अश्रु - भरे नेत्रों से कथा कहता हुआ - सा,
एकलव्य - वीरता की गाथा दुहराता - सा।
वह जैसे पार्थ की शरण हुआ नत था,
एक एक बाण, मौन क्रन्दन था मुख में।

श्वान के शरीर पर फेरा हाथ पार्थ ने,
उसे पुचकारा और बाण खींचे धीरे से।
विस्मय से देखा मुख - मध्य बाण सात थे
भौंकते समय मुख खुलने के क्षण के
अंतराल में ही शब्द - ध्वनि लक्ष्य साध के,
लाघव से ध्रुव धुरीण धन्वी ने मारे हैं।

सभी पाण्डुपुत्र थे अवाक्! ऐसी दक्षता

धनुर्वेद में किसी भी वीर ने न पाई है !
कौन वह वीर इस पृथ्वी तल पर है,
जो कि इस भाँति धनुर्वेद का आचार्य है ?

दृष्टि से ही पांडुपुत्र ऐसे ध्रुव लक्ष्य की,
एक दूसरे को देख करते सराहना।
निष्प्रभ से हो उठे, लगा उन्हें ऐसा कुछ,
जैसे उनका अभ्यास लघु बाल - क्रीडा हो !

पार्थ का समस्त अहंकार क्षण - भर में,
गल गया, जैसे वह लघु हिमोपल हो।
श्वान - मुख में न बाण मारे किसी वीर ने,
मारे बाण उसने हैं पार्थ - पुरुषार्थ में !

पार्थ खड़े हो गए, तो श्वान उठा धीरे से,
चल पड़ा वह उस आश्रम की ओर ही।
पार्थ ने संकेत किया, उठे सब शीघ्र ही,
अनुसरण करने को दौड़ते श्वान का।

पार्थ के समक्ष गुरु - स्वप्न साकार हुआ,
धनुर्वेद - साधना का सिद्ध ज्ञात हो गया।
संध्या ऐसी थी कि अस्त तेज - सूर्य उनका
हो रहा था। संपुटित मुख नतजात था।

४

एकलव्य - आश्रम था। श्वान वहाँ था खड़ा,
पाण्डु पुत्र आए सब, साथ भृत्य - दासों के।
देखा सबने कि एकलव्य लक्ष्य - वेध में
व्यस्त है, क्षणों के साथ बाण चले जा रहे।

मूर्ति है समीप रखी आर्य गुरु द्रोण की,
एकलव्य देखता है गुरु और लक्ष्य को।
जैसे, ज्ञान और कर्म सन्तुलित हो गए,
भक्ति की पुनीत श्रद्धा भावना के सामने।

'वीरवर! तुम कौन?'—शब्द गूँजे पार्थ के—
'किसका आश्रम यह?' और 'गुरु कौन है?'
तीन वाक्य पार्थ - कंठ से उठे त्रितापों से।
एकलव्य चौंक उठा, देखा—राजपुत्र हैं!
उसने प्रणाम किया—

'स्वागत, महाभाग!'
'आसन ग्रहण करें।' 'कष्ट हुआ आपको।'
ये भी तीन वाक्य ये त्रिवेणी - वारि - धारा से,
जिनसे त्रिताप आप ही विनष्ट होते हैं।

फिर एकलव्य ने बड़े ही नम्र भाव से,
आत्म - परिचय - सा निवेदन किया —
'प्रभो!

नाम एकलव्य, पिता श्री हिरण्यधनु हैं,
मेरे गुरु का ही यह आश्रम पुनीत है।'

'कौन गुरु?'

'मेरे गुरु आर्य-श्रेष्ठ द्रोण हैं।
समासीन वे हैं इस आश्रम के सामने,
उनको प्रणाम करें।'

पार्थ तथा सबने
गुरु-मूर्ति को प्रणाम किया भक्ति-भाव से।
'गुरु आर्य द्रोण हैं?'

युधिष्ठिर ने प्रेम से
पूछा और मूर्ति देखी अति गूढ़ दृष्टि से।
'वे हैं हस्तिनापुरी में शिक्षा-दान हेतु, क्या
नित्य यहाँ आते हैं? फिर मूर्ति यहाँ कैसी?'
एकलव्य ने विनीत स्वर से कहा—

'प्रभो!
गुरुदेव तो हैं हस्तिनापुरी में, किन्तु वे
मेरे सामने प्रत्यक्ष आश्रम के स्वामी हैं।
उनकी ही प्रेरणा से धनुर्वेद प्राप्त है।
साधना तो उनके संकेत से ही सिद्धि है।'
पार्थ ने समीप होके पूछा—

' ऐ एकलव्य !
तुमने ही मारे बाण मेरे श्वान-मुख में ? '
' क्षमा करें, देव ! दास ने ही धृष्टता की है,
किन्तु यह श्वान है अधिक धृष्ट मुझ से।
मेरे गुरु के समीप शब्द करने लगा,
वे हैं ध्यान-मग्न, उन्हें कष्ट होता शब्द से।
श्वान मुख बन्द हो, इसी पुण्य प्रेरणा से,
मैंने सात बाणों से है मौन किया श्वान को।

कहीं क्षत नहीं और रक्तस्राव भी नहीं,
इसी लक्ष्य से किए थे प्रेरित विशिख ये।'

' साधु ! पूर्ण लाघव है एकलव्य ! तुममें,
किसने सिखाई यह बाण-विद्या तुमको ? '

' आर्य गुरु द्रोण ने, जो सम्मुख आसीन हैं।
उनके संकेत से यह स्फुरित विद्या है।'

पार्थ ने जिज्ञासा की—

' क्या मूर्ति के संकेत से ?
मूर्ति क्या संकेत कभी करती है जड़ हो ! '
' शान्त, देव ! कौन जड़ है, कौन चेतन है ?
यह तो हमारी दृष्टि का संकोच ही है जो
हम जड़ को ही जड़ यहाँ मान बैठे हैं।

चेतन तो अहकार से विकृत होता है,
किन्तु जड पूर्ण निसर्गत प्रकृतिस्थ है।
आर्य परिचय तो प्रदान करें अपना।'

'पार्थ मेरा नाम। सभी पाडुपुत्र वीर हैं,
गुरु आर्य द्रोण के सभी हैं शिष्य, किन्तु मैं
इतना कहूँगा आर्य गुरुवर द्रोण ने,
हम सब को तो शिक्षा दी है धनुर्वेद की,
किन्तु वह ज्ञान-दान हमको दिया नहीं,
जो तुम्हारे धनुर्वेद कौशल में दीखता।'

'सावधान, आर्य! गुरु-निन्दा एक क्षण भी,
सुन न सकूँगा आपके वाचाल मुख से।
गुरु ज्ञान-दान निष्पक्ष करते हैं सदा,
शिष्य है जो प्राप्त करने में असफल है।
छेड़ें न प्रसग। कन्द-मूल स्वीकार करें,
निज गुरु भाई का सहज प्रेम मान के।
आज्ञा कीजिए, करूँ व्यवस्था क्या विश्राम की?'

'नहीं, एकलव्य! गुरु मार्ग देख हैं रहे,
हम सब शीघ्र करें प्रस्थान इस क्षण।'

'यदि गुरुदेव कर रहे हैं प्रतीक्षा तो,
कैसे रोकूँ अपने अतिथि भाइयों को मैं।

कन्द - मूल ही करें स्वीकार प्रेम-भाव से ,
गुरु को प्रणाम कहें। इतनी है प्रार्थना
कभी इस ओर आवें, निज दास मान के।'

पार्थ अति व्याकुल थे शीघ्र चले जाने को ,
कन्द मूल लिए साथ। थे अशान्त मन में।
मृगया समाप्त था, परन्तु वीर सिंह दो ,
इस काल भी अशान्त हो रहे थे वन में।

त्रयोदश सर्ग

द्वन्द्व

त्रयोदश सर्ग



सन्ध्याकाल हो चुका था। पश्चिम में रवि था।
तेज हीन अस्तोन्मुख अरुण वदन था,
जैसे सब पाण्डु-पुत्र लज्जित थे, हीन थे,
एकलव्य की महान् साधना के सामने।

विहगों के वृन्द उड़े विपुल निनाद से,
वृक्ष वृक्ष से, समीप ऊँचे वृक्ष-वृक्ष में।
मानो कल गान कर एकलव्य - कीर्ति का,
परिहास करते थे पाण्डु पाण्डु - पुत्रों का।

एकलव्य - आश्रम से जब प्रस्थान किया,
अर्जुन समेत पाण्डु पुत्रों ने विषाद से,
कुछ दूर एकलव्य गया पहुँचाने को,
करके प्रणाम वह बोला भक्ति भाव से —

'धन्य भाग्य! आज मुझे श्री गुरु भाइयों ने,
दर्शन दे कितना कृतार्थ किया! आपकी
स्मृति सदा बल देगी मुझे इस वन में,
भूलूँगा न आपको मैं साधनावकाश में।

कभी-कभी मृगया के हेतु इस वन में,
कष्ट करें आने का, मैं धन्य भाग्य मानूँगा।
स्वागत के हेतु सदा दास होगा प्रस्तुत,
हाथ मेरे धन्य होंगे सेवा कर आपकी।

गुरुदेव की पुनीत सेवा में प्रणाम भी,
कहने का कष्ट करें और मेरी धृष्टता
यदि वे क्षमा करें, तो यह और कह दें,
एक तुच्छ दास यहाँ दर्शनाभिलाषी है।

और निज वन-भूमि की पुरानी स्मृतियाँ
जाग उठें, तो वे इस दास के स्थान पर,
आवें कृपया तो दास कितना कृतार्थ हो!
अहा, वह शुभ दिन कितना महान् हो,
जिस दिन गुरुदेव आश्रम में आवेंगे!
जिस दिन पद-रेणु यहाँ गिर जायगी,
उसका तिलक मेरे मस्तक पर सदा,
श्री-सौभाग्य-सूचक हो सूर्य की किरण-सा।

आपसे है प्रार्थना कि पूज्य गुरुदेव के
मन में उमग भरें वन-भूमि आने की।
आपका कृतज्ञ मैं रहूँगा इस जन्म में,
जो कहेंगे, सेवा मैं करूँगा सुख मान के।

विवश हो बाण मैंने श्वान मुख में भरे,
इसके लिए भी क्षमा चाहता हूँ आपसे।
लीजिए प्रणाम मेरा, देर अब हो रही,
मुझे गुरु - सेवा के निमित्त अब जाना है।'

एकलव्य ने किया प्रणाम झुके शीश से,
पाण्डु - पुत्रों ने भी कुछ अनमने भाव से
उसको स्वीकार किया और फीके मुख से
कहा—'एकलव्य! हम फिर कभी आवेंगे।'

एकलव्य आश्रम की ओर चला सुख से,
और चले पाण्डु पुत्र दुख से शिविर में।
एक सन्ध्या में ही सुख दुख का सुयोग था,
जैसे हो प्रयोग 'ह' का हर्ष और हास में।

२

वन के शिविर में उदास गुरु द्रोण थे,
राजपुत्र लौटे नहीं, रात्रि होने आई है।
श्वान को ले भृत्य गए, वे भी नहीं लौटे हैं,
आहत न हो गया हो कोई राजपुत्र ही।

'क्या मैं स्वयं जाऊँ अब?'
—सोच ही रहे थे वे।
राजपुत्र, भृत्य और श्वान लिए आ गए।
सब शीघ्र आए गुरुदेव की श्री सेवा में,

जैसे सब ज्ञान मिल जाते हैं विज्ञान में।
श्वान की जो घटना घटित हुई वन में,
यथावृत्त गुरु द्रोण को सुनाई सब ने,
'एकलव्य' नाम और धनुर्वेद - साधना,
कही भिन्न ढग से ही और भिन्न मुद्रा से।

देखा गुरु द्रोण ने कि पार्थ चिन्ता - मग्न है,
उसको बुलाया और ले गए एकान्त में।
पूछा—'एकलव्य क्यों प्रसन्न है वनान्त में?
कैसी साधना में लीन है, क्या जान पाए हो?

नाम भूलता था मैं, परन्तु एकलव्य का
वेश पहचानने में स्मृति साथ देती थी।
एक दिन आया वह प्रात राजधानी में,
और मेरे चरणों में मस्तक झुका दिया।

चाहता था धनुर्वेद सीखना, परन्तु मैं
स्वीकृत न कर सका। आर्य राजनीति का
है विधान—'शूद्र के लिए न विद्या दान है।'
मैंने समझा दिया उसे विभिन्न रीति से।

मार्ग है कठिन और कहा दृढ वाक्य में—
'जाओ हे निषादपुत्र! तुम हो अस्वीकृत!'
कौन जाने, वह कहाँ गया, जानता नहीं,

किन्तु उस रात उसे देखा फिर स्वप्न में।
आज तुम कहते हो दिव्य उसकी कथा।
मैं प्रसन्न हूँ कि वह स्वप्न भवितव्य है,
सत्य की प्रखरता में दृष्टिगत होता है,
और वह स्वप्न का कुमार एकलव्य है।'

पार्थ ने प्रणाम कर मस्तक झुका दिया—
गुरुदेव! एकलव्य की विचित्र श्रद्धा है।
आपकी बनाई मूर्ति मृण्मयी मनोज्ञ है,
उसके समक्ष नित्य करता अभ्यास है।
कहता है,—'जो कुछ भी लाघव है लक्ष्य में,
वह सब आपकी ही मूर्ति का प्रभाव है।'

कहता है अपने को शिष्य, देव! आपका
उसकी शिक्षा का मन आपका सचेत है।
है निषादपुत्र, किन्तु इतना तेजस्वी है,
जितना कि सीकृ नाए मनों के समेत है।'

३

वन के शिविर में प्रशान्त रात्रि वेला है,
राजपुत्र सभी परिश्रान्त निद्रा लीन हैं।
पार्थ शैया पे झुकाए निज शीश बैठा है,
और रात्रि-रेखा सी है चिन्ता-रेखा मुख में।

वायु की लहर कभी चलती है धीरे से,

दीपाधार पर रखे जो मृत्तिका - दीप हैं,
वे सिहिर उठते हैं पार्थ के समान ही,
शंका है कि वे न बुझ जाएँ तीव्र झोंके से।

पार्थ सोचता है—

'दीप भी बने मृत्तिका से,
इनमें भी ज्योति उठी स्नेह के आधार से।
क्या आश्चर्य, एकलव्य के विश्वास स्नेह से,
मृत्तिका की गुरु-मूर्ति ज्योतिर्मय हो उठे।

कितना विश्वास होगा एकलव्य वीर में।
जो कि गुरु-मूर्ति को ही गुरु मान बैठा है।
लक्ष्य - वेध - श्रेय वह गुरु ही को देता है,
कितना अहंकार - शून्य निस्पृह वीर है।

ऐसा मैं न हो सका हूँ, यह दोष मेरा है।
एकलव्य ने कहा था सत्य वीर वाणी से —
'गुरु ज्ञान-दान निष्पक्ष करते हैं सदा,
शिष्य है जो प्राप्त करने में असफल है।'

सत्य ही मैं ज्ञान - प्राप्ति में रहा असफल,
तभी तो मैं मान - हीन होके यहाँ बैठा हूँ।

मेरा अहंकार सब आज नष्ट हो गया,
देखा उस धन्वी का कौशल अभूतपूर्व।

अद्भुत वह लाघव था, बाण - प्रक्षेप में।
गति, दूरी, शब्द और लक्ष्य संतुलित थे।

मैंने शब्द - वेध - कला रात रात सीखी है,
किन्तु वह लाघव न प्राप्त मुझे हो सका।
एकलव्य सीख चुका, जो - जो गुरु - मूर्ति से,
वह सीख पाया नहीं मैं प्रत्यक्ष गुरु से।

अहंकार मेरा है जो बाधक हुआ सदा,
किन्तु राजपुत्र हूँ, मैं कैसे भूल पाऊँगा?
क्षत्रिय हूँ, राजवंश का दायित्व मेरा है,
सत्य मुझे करना है स्वप्न आर्य भीष्म का।

कैसे कहूँ, क्षत्रियत्व के खिंचे धनुष में,
मेरा आत्म भाव सधा एक तीक्ष्ण बाण सा!
कैसे इस बाण को उतारूँ उस धन्वा से?
यह तो भविष्य की ही भूमिका का रूप है।

यह सत्य है कि ऐसा लाघव मुझे कभी,
प्राप्त नहीं होगा और एकलव्य वीर ही
इस पृथ्वी - तल - मध्य अद्वितीय धन्वी हो,
शासन करेगा इस सारी आर्य - जाति का।

आर्य जाति, मेरी आर्य-जाति। जो कि कल ही,
संगठित हो सकी है किस कठिनाई से।

आर्य भीष्म की ही दूर - दृष्टि - सुदर्शन से ,
क्षय-प्राप्त जाति में है चेतना सचार - सा ।
इस चेतना का स्रोत - सूत्र एकलव्य के
तीक्ष्ण बाण से ही कटने की है सभावना ।
फिर एक शूद्र जो निषाद का कुमार है ,
परशुराम भार्गव - सा क्षत्रिय नाश को
अपना धनुष बाण ले के ललकारैगा ।
आज श्वान - मुख भरा उसने है बाणों से,
कल इसी लाघव से, इन्हीं तीक्ष्ण बाणों स ,
क्षत्रियों के शत - शत मुख भरे जायंगे ।
कैसे रोक मैं सकूँगा इस परिस्थिति को ?
कैसे मैं समानता करूँगा एकलव्य की ?
नष्ट कर सकूँगा क्या मैं साधना उसकी ?
और साधना कहाँ है, साधना तो सिद्धि है !
यह सिद्धि नष्ट कैसे हो सकेगी मुझसे ?
क्या मैं चुपचाप किसी वृक्ष - आवरण मे
बैठ तीक्ष्ण लक्ष्य लेके एक पैने बाण स ,
दक्षिण भुजा ही काट डालूँ एकलव्य की !
दक्षिण भुजा ही काट डालूँ ! नहीं, यह तो
राजनीति की भले हो मान्यता, परन्तु मैं

वीर राजपुत्र होके गर्हित जघन्यता,
कर न सकूँगा। आर्यजाति चाहे नष्ट हो!

कैसे हल हो समस्या? गुरुदेव आर्य हो,
इसका विचार करें। मैं तो हत-बुद्धि हूँ!
पास चलूँ गुरु के मैं, जाग उठे होंगे वे।
ब्राह्म-वेला हो रही है। प्रार्थना करूँगा मैं।'

४

'जय गुरुदेव!'
'पार्थ!'
'आर्य को प्रणाम है!'
'स्वस्ति! तुम जाग उठे?'
'देव! सो सका नहीं।
रात्रि-भर सोचता रहा हूँ बात कल की,
स्वप्न आपका जो अक्षरश: सत्य निकला।
वह तो प्रमाण है कि आप सत्य-द्रष्टा हैं।
मानस में वर्तमान या भविष्य सृष्टियाँ,
कितने सहज रूप से उतर आती हैं,
सत्य-काम संत सचमुच त्रिकालज्ञ हैं।
मृगया से लौट कर हम सब शिष्यों ने,
आपसे कही थी कथा तीव्र मन्द कंठों से।

उस एकलव्य के विचित्र शब्द - लक्ष्य की,
जो कि वह सिद्ध कर चुका है अभ्यास से।

आपने स्मरण किया था कि एकलव्य ही,
शिक्षा-दान के लिए आया था किसी काल में।
निज दायित्व जान आपने कहा था यह,
'जाओ हे निषादपुत्र! तुम हो अस्वीकृत।'

किन्तु स्वीकृति लेने को ही वह तत्पर था,
गया वन - मध्य और मृत्तिका की मूर्ति में —
आपका उतारा रूप, बैठा पद तल में,
और गुरु मान धनुर्वेद - साधनाएँ की!

कैसी वह साधना थी, समझ न पाया हूँ,
और हैं संकेत कैसे मूर्ति ने दिए उसे?
किन्तु यह सत्य है कि आज एकलव्य ही,
धनुर्वेद - विद्या का अकेला ही आचार्य है।

कल्पना कर न सकूँगा उस लाघव की,
जो कि एकलव्य का सामान्य - सा प्रयोग है।
पूछा जब मैंने हँस उसके समीप हो —
'किसने सिखाई यह बाण विद्या तुमको?'
उसने तत्काल कहा—

'आर्य गुरु द्रोण ने
जो धनुष-बाण लेके सम्मुख आसीन हैं
उनके संकेत से यह स्फुरित विद्या है।'

'कौन सा संकेत आप दे रहे हैं मूर्ति से?
जिससे कि एकलव्य जान गया विद्या जो
हम सब शिष्य नहीं जान पाए आज भी।

आप सत्य-द्रष्टा हैं ही, देखते हैं स्वप्न में,
आप प्रिय शिष्य को तो देते होंगे शिक्षा भी।
और यह सत्य है कि चेतन मनस् से,
शक्तियाँ अधिक अन्तर्चेतन मनस् की।

इस भाँति शिक्षा जो अप्रत्यक्ष रूपा बनी
वह श्रेष्ठ निश्चय है प्रत्यक्ष की शिक्षा से।
स्वप्न में जो दे रहे हैं आप एकलव्य को,
वह शिक्षा श्रेष्ठ है हमारी इस शिक्षा से।

क्षमा गुरुदेव! करें, वाणी कुछ स्पष्ट है,
किंतु आर्य सोचें—एकलव्य एक शूद्र है।
वह धनुर्वेद में जो अद्वितीय वीर हो,
क्षत्रियों का क्या भविष्य होगा! आर्य समझें।

आप दे रहे हैं शिक्षा शूद्र एकलव्य को,
स्वप्न में सही, परन्तु आप ही आचार्य हैं।

आर्य भीष्म जो कहें आचार्य की श्री-सेवा में,
एक नम्र प्रार्थना निवेदित है मेरी भी।

उस दिन आप ने हृदय से लगा मुझे,
कितनी प्रसन्नता से प्रण यह था किया—
'पार्थ! सुनो, कोई मेरा शिष्य कभी स्वप्न में,
तुमसे न श्रेष्ठ होगा धनुर्वेद-शिक्षा में।'

आज यह आप का ही शिष्य एकलव्य जो,
है निषादराज - पुत्र, किन्तु पाडु पुत्रों से
श्रेष्ठ हो गया है और आप के ही देखते,
इतना पराक्रमी है, चाहे विश्व जीत ले।

प्रण पूर्ण करना तो आप जानते ही हैं,
क्या न रोक सकते हैं गति एकलव्य की?
शिष्य आप का ही है, क्या आज्ञा नहीं मानेगा,
जो कि उसे देंगे आप अपने श्री मुख से?

क्षमा करें, आप तो महान् महावक्ता हैं,
आप के समक्ष दो महान् प्रतिज्ञाएँ हैं—
'आर्यवंश-रक्षा और पार्थ अद्वितीयता,'
इनकी ही पूर्ति की करूँगा प्रार्थना सदा।

यदि एकलव्य सच्चा शिष्य आप का है तो,
वह भी सहायक बनेगा प्रण-पूर्ति में।

यदि नहीं, तो हे देव ! आज्ञा '

'शान्त, शान्त हो !'

गुरुदेव द्रोण ने किया संकेत हाथ से—
'ऐसी बात क्या है, जो कि धूमिल विवेक है ?

पार्थ ! तुम अधिक अशान्त ज्ञात होते हो,
सत्य है कि तुम एकमात्र प्रिय शिष्य हो,
किन्तु प्रिय शिष्य को गभीर होना चाहिए।

प्रण की जो बात कही, वह बात मेरी है,
किन्तु तुम कैसे वीर अपने को मानोगे ?
जब किसी अन्य वीर की महान् साधना,
तुमको प्रसन्न करने में असमर्थ है !

स्वार्थ-त्याग करो वीर ! साधना में व्यस्त हो,
छोड़ो अविवेक, शान्त चित्त बनो ज्ञान से।
जानता हूँ राजनीति में तुम्हारी दृष्टि है,
किन्तु शिक्षा और राजनीति साथ वर्ज्य है।

यह तो समस्या मेरे चिन्तन क्षेत्र की है,
सोचता रहा हूँ जब मैंने उस रात में
स्वप्न देखा अविदित उस व्रतधारी का,
जिसको प्रत्यक्ष तुम देख कर आए हो।

चिन्तन करूँगा आज पूर्ण शान्त चित्त से,

इस घटना पर, जो है तुम्हारे सामने।
सव्यसाची! सध्या को चलूँगा तुम्हें साथ ले,
एकलव्य - आश्रम में। तुम प्रस्तुत रहो।

'स्वस्ति' शब्द का सदैव शिष्य अधिकारी है,
जब कि नित्य साधना में वह निस्तन्द्र है।
किन्तु दुर्भाग्य है कि राहु तभी ग्रसता है,
जब पूर्ण कला - युक्त होता चारु चन्द्र है।'

चतुर्दश सर्ग

दक्षिणा

चतुर्दश सर्ग



वाणी! वीर एकलव्य के उदात्त यश में
कुछ पंक्तियाँ हैं शेष, जो लिखेगी लेखनी।
उसको तुम ऐसी शक्ति दे दो हे शारदे!
एकलव्य-बाण-जैसा शब्द-लक्ष्य ले सके।

मेरी अनुभूति रंग-हीन पुष्प-जैसी है,
किंतु वह खिलती है मेरे भाव-वृंत में।
कल्पना-पराग के भले ही कण थोड़े हों,
किन्तु उनका है योग सत्य मधु-बिन्दु में।

जा रहा दिनेश, देखो, पश्चिम दिशा में है,
अपनी समस्त साधना की रश्मियाँ लिए।
सौम्य वह कितना है इस निर्वाण में ही,
एक-एक बादल में रंग भरता हुआ।

दिन में प्रकाश-कोश उसने लुटाया है,
और असमर्थता में लज्जित हुआ सा है।
क्षितिज के मंच पर बैठ संतोष यह,
दे रहा है, कल फिर तेज ले के आऊँगा।

जीवन नैराश्य की है भूमि नहीं, मानवो !
सुख - दुख बादलों की भांति उड़े आते हैं।
शक्ति मिटती नहीं है, अवतार लेती है,
तुममें सदैव, तुम योग्य तो बनो सही।

वायु बहती है जैसे वह प्राण - वायु हो,
फूल भरे - यौवन में खिल - खिल जाते हैं।
मूल मन्त्र उनके विकास का उत्सर्ग है,
टूट जाने पर भी सुगन्धि नहीं खोते हैं।

पत्तों की ध्वनियाँ हैं या वेद की ऋचाएँ हैं,
जो कि गान करती हैं मुक्त नीलाकाश में।
चन्द्र - मन और सूर्य - नेत्र से जो देखता,
उसमें समर्पित हैं हम सब काल में।

नद जो प्रवाहित है, वह भी तरंग में
झूमता है, किन्तु स्थिर क्षण को न होता है।
जीवन तरंग देता दोनों ओर कूलों को,
और स्वयं अपना प्रवाह देता सिन्धु का।

ये विहग मादक हैं, कल - कंठ वाले हैं,
किसने इन्हें उदास देखा प्रात - सध्या में ?
गीतों के वन्दनवार बांधते दिशाओं में,
मंगल - त्योहार के सदा से अग्रदूत हैं।

और इस आश्रम में नाचते मयूर है,
बोलते हैं पारावत, क्रौंच, मधु-शब्द में।
करते समर्पित हैं पंख नाना भाँति के,
जो कि बाण में या शीश सज्जा में प्रयुक्त हैं।

लहलही होती हैं लताएँ तरु-पार्श्व में,
झुंड झुंड फूल फूलते हैं नए वृन्तों में।
डोलते हैं वायु लहरों में चू पड़ते हैं,
आर्य गुरु द्रोण मूर्ति शीश पर धीरे से।

वृक्ष बढ़ते हैं पुष्ट होके दृढ़ काण्डों में
प्रस्तुत धनुर्दण्ड करते प्रतिदिन हैं।
कोमल द्रुमों के दण्ड उगते स-हेतु हैं,
एकलव्य के करों को छू सकेंगे बाण हो।

वन भूमि ने प्रशांत क्षेत्र मुक्त है किया,
बाण दूर-दूर तक निज लक्ष्य ले सके।
दे रही निमंत्रण है चिह्न चट्टान द्वारा,
वीर! तुम यह पाषाण-हृदय बेध दो।

वंश-वंश की त्वचा समर्पित प्रत्यंचा में,
करती टङ्कार बार-बार इस भाँति है।
जैसे यह वन श्री बनी है चारु चारणी,
एकतारा से जो धनुर्वेद यश गाती है।

एकलव्य धनुर्वेद - साधनावकाश में
अर्पित है गुरु की पुनीत सध्या - सेवा में।
वन्दना के उपरान्त सोचता है मन में,
'वह श्वान इसी स्थान से खड़ा हो भौंका था।

उसे बाण मार अनुचित किया मैंने क्या?
किन्तु अनुचित क्या था, मैंने उसे रोका था।
मेरे गुरुदेव के समक्ष भौंकता रहे,
और मैं क्षमा करूँ उसे, क्या यह न्याय है?

पार्थ ने प्रशसा की मेरे लक्ष्य लाघव की।
किन्तु मुद्रा थी कि जैसे बाण उन्हीं को चुभे।
गुरु - भाई हो के यह व्यवहार कैसा था!
स्नेह स्निग्धता में सदा राजस है रज सा।

अथवा क्या नागरिक जीवन ही ऐसा है,
शब्द बोलने में विपरीत अर्थ देते हैं।
मैंने प्रेम से कहा कि 'आवें कभी वन में,
सेवाएँ स्वीकार करें लघु गुरु - भाई की।'

किस फीके मुख से कहा था—'कभी आवेंगे।'
जैसे घने बादलों से घिरा कोई दिन हो।
इतना विश्वास है कि यदि गुरुदेव ने
यह वृत्तान्त सुना, तो वे मुझे देखने को

एक बार प्रेम से यहाँ अवश्य आवेंगे।
कैसे भूल सकते हे एकलव्य शिष्य को?
उनका पवित्र पद पद्म-जल शीश ले,
जीवन जलन मैं बुझाऊँगा सदैव को।

हाँ, सदैव ,

तभी श्वान भौंकने की ध्वनि थी
अग्नि शिखा-सी जली सु दूर। एकलव्य ने
चारों ओर दृष्टि डाली, देखा एक श्वान हे,
रह-रह भौंकता है, पास चला आ रहा।

कुछ ही क्षणों में वह श्वान स्पष्ट दृष्टि में
आया, अरे, यह तो वही है श्वान। जिसने
मेरे सात बाणों को दिया था यश मुख से,
पार्थ जिसे देख कर चकित थे हो उठे।

गुरु-सेवा में जा बाण छोड़े गए प्रेम से,
उनमें क्या ऐसा स्वाद मिला इस श्वान को।
फिर वह बाण चखने को यहाँ आया है?
जाओ श्वान! स्वाद की अपेक्षा मौन मीठा है,
बाण हलके सही हैं, किन्तु मन भारी है।
मेरी बाण-विद्या की परीक्षा बार बार हो,

किंचित् स्वीकार नहीं मेरे अवकाश को।
नागरिक हूँ नहीं मैं, एक ग्राम-वासी हूँ,

साधना तभी तो सिद्धि की है अधिकारिणी,
जब वह नित्य के प्रदर्शन से दूर हो।

पीछे श्वान के है कौन ? पार्थ ? वही पार्थ हैं,
जो कि श्वान स्वामी उस दिन यहाँ आए थे।
और साथ में है कौन ? श्वेत केशधारी हैं !
पार्थ के पिता हैं ? न तपस्वी-सी आकृति है।

श्यामवर्ण लम्बी जटाएँ आर्य गुरु द्रोण
जैसे दीखते हैं धन्य ! आर्य गुरु द्रोण हैं।
मेरे श्री आचार्य ! मेरे गुरुदेव ! मेरे हैं !
पार्थ अपने ही साथ उनको ले आए हैं !

धन्य भाग्य मेरे ! पार्थ ! कितने कृपालु हो !
मेरी छोटी प्रार्थना को इतना महत्त्व दे,
दूसरे ही दिन लेके आए गुरुदेव को !
धन्य पार्थ ! उऋण न जीवन में होऊँगा
तुमसे, जो तुमने दिया है यश मुझको,
श्री गुरुदेव के चरण आए आश्रम में !
जैसे तीस रात्रियों में आए एक पूर्णिमा,
या कि जन - भाषा मध्य मंजु अलंकार हो !

या जैसे निर्वेद में प्रकट शान्त रस हो,
आश्रय विहीन लता में खिला प्रसून हो !

मेरे गुरुदेव आए! जानता नहीं हूँ मैं,
कैसे करूँ स्वागत? हा! आज ज्ञात हो रहा,
कितना अकिंचन हूँ, पूज्य गुरुदेव की
पूजा करने में। कोई साधन न पास है!

किन्तु मेरी श्रद्धा गुरुदेव जान जावेंगे।
मन में सदा हैं फिर कौन-सा दुराव है?
फिर भी जो स्वागत है आज मेरे वश में
मैं करूँगा वही, 'जय! जय! गुरुदेव की!'

ऐसा कह एकलव्य ने प्रणाम करके,
धनुष सधान किया और एक बाण ही
छोड़ा, जिसने लता के वृन्त झकझोर के
श्री गुरु-चरणों पर पुष्प-वर्षा कर दी।

इसके पश्चात् सात बाण सधान कर
छोड़े जो कि सात बार करके परिक्रमा,
गिरे गुरुदेव-चरणों में गति-हीन हो।
जैसे एकलव्य की समस्त बाण-साधना
करती प्रणाम गुरुदेव के चरण में।
प्रार्थना की रागिनी में जैसे सप्त स्वर थे।

बाणों के नवीन इस स्वागत-विधान से,
गुरुदेव के विशाल उर में प्रमोद था।

एकलव्य आश्रम के पास अब आए थे,
और हाथ ऊँचा कर 'स्वस्ति!' कहा स्नेह से।

पार्थ में आश्चर्य और द्वेष था मिला हुआ,
कभी गुरुदेव और कभी एकलव्य को
देखा सकुचित हो के सम्मिलित भाव से,
जैसे ऋतु संधि में प्रकृति हीन होती है।

विह्वल एकलव्य आगे बढ़ा आश्रम से,
'जय गुरुदेव!' कह पद-नत हो गया।
दोनों चरणों की धूल लोचनों के अश्रु से
उसने बहा दी। पद प्रक्षालन ऐसा था।

क्षण-भर को बाष्प-गद्गद कंठ हो गया,
वाणी मौन हुई जैसे किसी चान्द्रमास में,
तिथि क्रम में हानि हो जाय किसी तिथि की।
चन्द्र-किरणों की भाँति वाणी गुरुदेव की

एक-एक कण को सहज सुधा-धारा दे,
शीतलता क्रोड़ में समेट व्याप्त हो गई।
'वत्स! उठो, मैं प्रसन्न हूँ तुम्हारी श्रद्धा से,
तुमने आदर्श रखा सच्ची गुरु-भक्ति का।'

आर्य की प्रशंसा से रोमांच हुआ दोनों को,
पार्थ को विद्वेष से तथा अतीव हर्ष से

एकलव्य को। संयोग था विचित्र भावों का,
मेघ-जल गिरे जाह्नवी में और नद में।

एकलव्य ने विनीत भाव से की प्रार्थना —
'पूज्य गुरुदेव! हों आसीन। यह वेदिका
आपकी है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों ही,
आज मिल एक बने जैसे मध्याह्न मध्य

वस्तु और छाया मिल एक बन जाती हैं।'
'साधु एकलव्य!' कह गुरु बैठे सामने,
मृत्तिका की मूर्ति रही पीछे। ज्ञात होता था
जैसे एकलव्य के महान् श्रद्धा-भाव ने
मूर्ति को ही मानव के रूप में है ला दिया,
जैसे मन्त्र होता है सजीव कंठ-स्वर से।
पार्थ कुछ दूर बैठे, एकलव्य ने तभी
आश्रम में जाके कन्द-मूल नाना भाँति के,

गुरु की श्री सेवा में रखे पुनीत भाव से।
पार्थ से की प्रार्थना 'करें स्वीकार आप भी।'

हँस कर आर्य द्रोण ने वात्सल्य भाव से,
देखा निज शिष्य को, जो पद में विनत था,
जैसे भाग्य के समक्ष जीव नत होता है।
एक फल चखा और बोले हँसते हुए —

'फल यह मीठा है, परन्तु यह सत्य है,
इससे भी मीठा, वत्स ! साधना का फल है।
यह मूर्ति मेरी तुम्हें साधना के मार्ग में,
इतना बढाती रही, मैं स्वय चकित हू !

मैंने सुना पार्थ से कि मूर्ति के सकेत से,
तुमने समस्त धनुर्वेद किया प्राप्त है !
लाघव जो तुमने दिखाया श्वान मुख में,
सात बाण मार बिना क्षत, बिना रक्त के,
कठ रुद्ध कर दिया ! महान् आश्चर्य है !
जानता नहीं हूँ, तुम कैसे सिद्धि पा गए ?

मैंने तो उत्साह भग किया कहते हुए —
'जाओ, हे निषाद पुत्र ! तुम हो अस्वीकृत ।'
कहाँ गए, कैसे रहे, और किस युक्ति से,
इस धनुर्वेद के हुए अधिकारी तुम !'

'देव ! आपकी महानता अनेक-रूपा है,
जान के भी अनजान जैसे पूछ हे रहे।
आपका है धनुर्वेद, शिक्षा आपकी ही है,
और शिष्य आपका, फिर अज्ञात क्या रहा ?

पूछते हैं फिर भी, तो निवेदन यह है,
यद्यपि प्रत्यक्ष रूप आपको न पा सका,

फिर भी जो रूप मेरे मानस का अग था,
वह तो सदैव ही समीप रहा दास के।
नाम 'धनुर्वेद' सुना श्री-मुख से आपके,
चाहिए था और क्या, मैं सब कुछ पा गया!
जन्म से ही जैसे आप गुरुदेव मेरे थे,
और मुझे साधना का सबल था वश से।
घर नहीं लौटा, माता करती प्रतीक्षा थीं,
मैंने यह सोचा, यदि घर चला जाऊँगा
ममता का बन्धन ही बाँध लेगा मन को,
जैसे चक्रवाल में अराएँ कस जाती हैं।
निश्चय किया कि जैसे माता प्रति क्षण ही,
जलती है मेरे इस विरह में बलात हो,
उसी भाँति मैं जलूँगा धनुर्वेद - अग्नि में,
आपकी चरण चन्द्रिका को रख सामने।
मेरे उर में जो, देव! आपकी प्रतिष्ठा थी,
उसके प्रताप से पवित्र पुण्य - वेला में,
भूमि - कण आपस में जुड़ गए जल से,
और रूप आपका प्रत्यक्ष हुआ सामने।
आप ही थे, आपके समक्ष मैंने व्रत ले,
कितने धनुष और बाण अल्प काल में

मन से बनाए और ध्यान कर आपका,
लक्ष्य पर बाण छोड़े, जितनी कि शक्ति थी।

यदि किसी लक्ष्य वेध में असफल हुआ,
आपके समीप आया, चरणों में नत हो
प्रार्थना की। देखिए न, बार - बार शीश के
रखने से पद पर यह चिह्न हो गया।

असफलता पर मैंने सेतु बाधा, देव।
अश्रु - भरी प्रार्थना से जिसकी सघनता
शिला - स्वरूप हो गई उसे ही अभ्यास के
जोड़ गाढ़े द्रव से, आयस्क कर डाला है।

कितना अभ्यास किया यह नहीं जानता,
सूर्य, चन्द्र मेरी साधना को देख - देख के,
क्षितिज में कितनी ही बार अस्त हो गए।
मुझे ज्ञान नहीं दिनमान, रात्रिमान का।

यह भी न जानता हूँ, ज्ञान कितना हुआ,
मुझे धनुर्वेद में, तिमिर - शब्द वेध का।
बस, यह जानता हूँ गुरु अनुग्रह से,
लक्ष्य देखा मैंने, वेध उसका अटल है।

और मुझे चाहिए क्या। इतना संतोष है,
जग के प्रसिद्ध आर्य द्रोण गुरु मेरे हैं।

लक्ष्य - वेध मेरा सत्य - रक्षा में प्रयुक्त हो ,
निर्बल - निरीह प्राणियों का त्राण हो सदा ।

आज गुरुदेव आए, कितना सौभाग्य है
इस वनभूमि का ! मैं प्रार्थना भी क्या करूँ !
मेरा रोम - रोम आज बना शब्द शब्द है ।
मेरी साँस - साँस बनी गुरु की है प्रार्थना । '

' साधु एकलव्य ! '—गुरुदेव बोले सहसा ,
मुख की प्रत्येक रेखा मानो मधुमास की
बन गई एक - एक वल्लरी विलोलिनी ,
हर्ष के प्रसून प्रस्फुटित हुए शतश ।

' साधु एकलव्य ! तुम साधना के स्वामी हो !
जानते नहीं हो, ज्ञान आ गया है कितना ,
किन्तु जानता हूँ धनुर्वेद, कहता हूँ मैं —
तुम - सा कुशल धन्वी दूसरा नहीं हुआ ।

मुझे जान कर समीप, किया अभ्यास है
प्राणियों के प्राण - रक्षा - हेतु प्रतिदिन ही ।
अर्जित किया जो धनुर्वेद वह सिद्ध है ,
और तुम आज के अजेय धनुर्धारी हो ! '

पार्थ जो कि पार्श्व में थे अप्रतिभ मुद्रा में ,
बोले—

'गुरुदेव ! आपका कथन सत्य है।
फिर जो प्रतिज्ञा की थी श्री मुख से आपने,
उसका महत्त्व क्या रहेगा आर्य-वश में?'

'कौन-सी प्रतिज्ञा !'

—एकलव्य बाला श्रद्धा से —

'गुरु की प्रतिज्ञा सुनने का पात्र मैं भी हूँ।
यदि कुछ योग दे सकूँ प्रतिज्ञा-पूर्ति में,
अपने को भाग्य से सौभाग्यशाली मानूँगा।'

द्रोण हँसे—

'धन्य शिष्य ! यह मेरा प्रण था —
पार्थ को ही अद्वितीय धनुर्वेद दूँगा मैं।
कल अद्वितीय लक्ष्य देखा जो तुम्हारा है,
मेरी प्रण-रक्षा हेतु पार्थ विचलित हैं।'

'विचलित न हों, पार्थ !'

एकलव्य ने कहा —

यद्यपि न देखा मैंने कौशल है आपका,
किन्तु धनु धारण में आप धन्वी स्पष्ट हैं,
कर में भी रेखा-चिह्न दीखता प्रत्यन्चा का।

और जब आर्य ही हैं गुरुदेव आपके !
बाधा कौन-सी है तब धनुर्वेद-प्राप्ति में?

जब प्रतिरूप से मैं सीख सका इतना,
सीखेंगे अधिक ही आप प्रत्यक्ष रूप से।
गुरु-प्रण पूर्ण होगा, चिंता किस बात की?
अद्वितीय आपको मैं स्वयं मान लेता हूँ।'
'मानने की बात नहीं'
—पार्थ बोले ईर्ष्या से —
'देखा लक्ष्य है तुम्हारा मैंने श्वान-मुख में,
जानता हूँ, ऐसा लक्ष्य मैं न वेध पाऊँगा,
और तुम्हारे समक्ष हीन ही रहूँगा मैं।
चाहे प्रतिक्षण मैं अभ्यास में लगा रहूँ,
और गुरु द्रोण शिक्षा हेतु वर्तमान हों।'
'सावधान, पार्थ! गुरु निन्दा के कु शब्द ये,
कैसे यों निकलते हैं, एक क्षण सोचिए,
गुरु हैं समर्थ, यह शिष्य की है हीनता,
शिक्षा प्राप्त करने में वह अकुशल हो!'
पार्थ बोले—'कितना कुशल-अकुशल हूँ,
यह मेरे बाण द्वंद्व में ही बतलाएँगे।'
'प्रस्तुत हूँ, पार्थ! लो धनुष बाण हाथ में,
द्वन्द्व-युद्ध शिष्यों का हो गुरु के सम्मान में।'
चाप खिंचे, जैसे काल की कड़ी भृकुटि हो,

शर चढ़े, जैसे मृत्यु की उठी हों तर्जनी।
'रुको।'
—गूंजा शब्द तभी, मध्यस्थ श्री गुरु का,
जैसे दिन रात्रि बीच रागमयी सन्ध्या हो—
'यदि मेरे शिष्य मेरे सामने आवश में,
द्वन्द्व युद्ध में प्रवृत्त हों अराति भाव से,
और मेरी शिक्षा खड - खड होके नष्ट हो,
क्या कलंक वाणी न जुड़ेगी गुरु - गाथा में?'
चाप हुए नीचे, किन्तु पार्थ-वाणी ऊँची थी—
'किन्तु प्रण पूर्ति यदि आपकी न हो सकी,
तो कलंक - वाणी ही जुड़ेगी गुरु - गाथा में,
जो कि आर्य वंश में चुभेगी कुंत शूल - सी।
और आप जानते हैं, सभावित व्यक्ति की
थोडी भी अकीर्ति मृत्यु-कष्ट से अधिक है।'
प्रत्यंचा से हीन कर अपने धनुष को,
एकलव्य ने कहा—
'अकीर्ति गुरुदेव की,
होगी नहीं, जब तक जीवित हूँ जग में,
पार्थ ही सदा के लिए अद्वितीय धन्वी हैं।
एकलव्य करता है प्रण इसी क्षण से—

हाथ में न लूँगा कभी शर सरासन में।'
सर्प के समान फेंका चाप एकलव्य ने,
और बाण तोड दिए सर्प मन्त्र रेखा से।
'साधु एकलव्य!'

—पार्थ बोले व्यग्य - स्मिति से —

'पार्थ भी है क्षत्रिय, विराट् व्रतधारी है,
क्या निषाद - पुत्र की कृपा की भीख माँग के
अद्वितीय धन्वी की पताका फहराएगा?

नहीं, एकलव्य! इस दंभ - प्रण से नहीं,
तुम गुरु की प्रतिज्ञा पूर्ण कर पाओगे।'

गुरु नेत्र से बहे दो अश्रु जैसे मेघ के,
खड लड़ जायँ और वर्षा के आरम्भ में
नभ से भटकती दो बूँदें गिरें जल की,
जो कि भूमि को दें लघु सूचना सघन की।

बोले गुरु—

'वत्स, एकलव्य! तुम धन्य हो!
गुरु की प्रतिज्ञा - पूर्ति में प्रयत्नवान हो,
किन्तु तुम देखो आज गुरु की विवशता,
निज प्रण - पूर्ति में जो बना असमर्थ है!

मेरी भावनाएँ जैसे सिंधु की तरंगें हैं,

जो तुम्हारे धनुर्वेद - कला पूर्ण इन्दु का
देख - देख छूना चाहती हैं सदा, किंतु वे
अपनी विवशता में गिर - गिर जाती हैं।
जितना अभ्यास किया तुमने स्व - बल से,
कौन दूसरा करेगा इस पृथ्वी - तल में।
अहंकार - शून्य हुए तुम जिस भाँति हो,
वैसा होगा कौन, योग्य बन कर इतना?

गुरु - भक्ति तुमने की जिस भाँति शिष्य हो,
रेखा दृढ़ खींची सदा को क्षितिज रेखा - सी।

है परोक्ष भक्ति तुम्हारी, प्रत्यक्ष भक्ति से,
कितनी महान्! यह युग बतलाएगा।
ऐसा शिष्य पाके गुरु कितना कृतार्थ है!
उसकी कृतार्थता ही होगी गुरु - दक्षिणा'

चौंक उठा एकलव्य, शब्द 'गुरु - दक्षिणा!'
जैसे कर्ण - रन्ध्र पड़ा, विचलित हो उठा।
'मैंने धनुर्वेद पा के पूज्य गुरुदेव को,
गुरु - दक्षिणा नहीं दी, कैसा हत भाग्य हूँ!'

'चिंतित हुए हो कुछ?'

—द्रोण बोलते गए—

'मैं दुखी हूँ आज देख अपनी अयोग्यता,

ऐसे शिष्य की महानता में गुरु छोटा है,
जिसने प्रतिज्ञा की है सोचे - समझे बिना।

जानता नहीं था एकलव्य - जैसा शिष्य भी
हो सकेगा मेरा, मैंने की प्रतिज्ञा भूल से,
'पार्थ एकमात्र शिष्य अद्वितीय पृथ्वी में,
होगा। मेरा धनुर्वेद - व्रत तभी पूर्ण हो।'

अहंकार पूर्ण पार्थ तुमसे महान् हो,
यह धारणा तो पूर्ण मिथ्या है त्रिकाल में।
और पार्थ क्या करेगा, एक एक व्यक्ति से,
हँस के कहेगा—'गुरु द्रोण मिथ्यावादी है।

घोषणा की, मुझे अद्वितीय बना देने की,
किन्तु मंत्र बल से सिखाई विद्या शूद्र को,
इतनी कि अद्वितीय हो पुराण पत्नी सी,
जाके अनुरक्त हुई एक शूद्र - पुत्र में।'

किन्तु चिन्ता कैसी! यह दंड मेरे योग्य है,
निन्दा, अपयश भागी बना सब भाँति मैं,
जो कि भावावेश में ही प्रण कर लेते हैं,
उनका सौभाग्य सदा बनता कुभाग्य है।

गुरुकुल स्वामी नहीं, राजकुल-सेवी हो,
मैंने विद्या बेची स्वल्प वेतन के लोभ से,

आर्य भीष्म के समस्त गुरु हूँ कुमारों का,
उनके लिए ही मात्र शूद्रों का विरोधी हूँ।

तुम नहीं, वत्स ! यह समय ही शूद्र है !
जिसका कि दक्षिणागुप्त शक्तिशाली वन
निन्दा के नाराच छोड़ता है उग्रवेग से,
जिससे कि खंड खंड गुरु का हृदय है।'

अश्रु-पूर्ण आँखें हुईं आर्य गुरु द्रोण की,
ओंठ दबा दाँत से उन्होंने उर-पीड़ा को
उर में ही रोका और एक लम्बी साँस ले
कहा—

'यह दक्षिणा मिली है राज्य-सेवा से।
जिसकी समानता में कोई दक्षिणा नहीं।'

'मेरी दक्षिणा है शेष'—

एकलव्य धैर्य से
बोला और नेत्रों में तड़ित् जैसी भावना
कौंध गई, दाँत जैसे वज्र की लकीर हो
कस गए मुख में, अधर कट-सा गया।

'मेरी दक्षिणा है शेष, अर्पित क्या मैं करूँ ?
कुछ भी अदेय नहीं, पूज्य गुरुदेव को।
ऐसी दक्षिणा हो, जो कि मेरी हो प्रदक्षिणा,

चारों ओर गुरु के विनष्ट सभी बाधा हो।
कष्ट दे रही है जो कि निन्दा से, अयश से,
जैसे प्रण पूर्ति आप की हो, देव ! कहिए,
प्रस्तुत करूँगा क्षण मात्र में श्री सेवा में।

गुरुकुल स्वामी नहीं, आप राज सेवी हों,
इसे मैं क्या जानूँ, आप मेरे गुरुदेव हैं।
गुरु को बचाना अपकीर्ति से ही धर्म है
शिष्य का, इसी में वह नित्य भाग्यशाली है।'

'अद्वितीयता का वर दिया मैंने पार्थ को।'
टूटते - से स्वर में कहा श्री गुरुदेव ने।
आँखें बन्द किए, कुछ सोचा एकलव्य ने
फिर देखा पार्थ को, प्रणाम किया गुरु को।

'पार्थ को जो दिया अद्वितीयता का वर है,
वह सर्व काल सत्य हो, यही विधेय है।
धनु त्यागने के प्रण में निषाद की कृपा
ज्ञात होती पार्थ को, यह दुर्भाग्य मेरा है।

आपने अभी कहा है किस आप्तवाणी में—
'तुम नहीं, वत्स ! यह समय ही क्षुद्र है।
जिसका कि दक्षिणागुष्ठ शक्तिशाली बन
नि दा के नाराच छोड़ता है उग्रवेग से

जिससे कि खंड-खंड गुरु का हृदय है।'
'गुरु का हृदय खंड-खंड हो, असंभव!
दक्षिणांगुष्ठ ही हो खंड खंड मेरा जो कि
पार्थ को बना दे अद्वितीय धन्वी विश्व में।
गुरु-प्रण-पूर्ति करे सब काल के लिए,
जय गुरुदेव! यह रही मेरी दक्षिणा।'

क्षण ही में अर्धचन्द्र-मुख-बाण वेग से,
तूर्ण से निकाल कर लिया वाम कर में।
गुरु-मूर्ति के समीप हाथ रख दाहिना,
एक ही आघात में अंगुष्ठ काटा मूल से।

विद्युत्-तरंग सी उठी कराह गुरु के
उर बीच—

'क्या किया, हे एकलव्य! तुमने!
मेरी प्रण पूर्ति में विनष्ट निज साधना
एक क्षण में ही कर डाली, शिष्य! धन्य हो!'
कस कर बाहु-बीच खींचा एकलव्य को,
रक्त सिक्त हो के बोल उठे—

'एकलव्य हे!
तुम विप्र हो, हे शिष्य! गुरु द्रोण शूद्र है!
हा, तुम्हारी गुरुता में गुरु हुआ लघु है!

सारा वर्ण भेद धुल गया रक्त धार से,
वीर एकलव्य ! जिस साधना के तरु को
सूर्य चन्द्र-किरणों से सींचा दिन रात है,
उसको उखाड़ दिया, एक क्षण मात्र में !

गुरु-भक्ति ऐसी जो भविष्य के भाल पर,
तिलक बनेगी रवि-रश्मि को समेट के।
पार्थ ! रक्त देखो, इस एकलव्य वीर का,
जो कि राजवंशों से भी धोया नहीं जायगा।'

पार्थ झुका शीश, देख दबी हुई दृष्टि से,
पूर्णकाम, प्रीतिमना होके विगत ज्वर।
शिशिर का अन्त, आदि ले वसन्त वाणी में,
बोला —

'क्षमा करो, एकलव्य ! मेरी धृष्टता !

काटा है अंगुष्ठ, किन्तु नाग ऐसा छोड़ा है,
जो न चढ़ा पाऊँगा कभी धनुष पर मैं।
क्षमा करो, गुरु भक्ति सीखी आज तुम से।
मैंने राजवंश की अहम् - भावनाओं से।

गुरु को था हीन माना। तुमने निषाद हो,
गुरु का महत्त्व सिखलाया इस विश्व को।'

एकलव्य पीड़ा को दबाए कण्ठ कंठ से,

बोला—

‘गुरुदेव ! दक्षिणा में देर हो गई !
कीजिए स्वीकार, यह अर्पित है सेवा में।
अपने चरण के समीप इसे स्थान दें।’

पद के समीप रखा रक्तिमांगुष्ठ जब,
गुरु-नेत्र झँपे, मुख फेर लिया पार्थ ने,
एकलव्य ने विनम्र रक्त रँगे कर से,
गुरु चरणों को छुआ, मस्तक झुका दिया।

रक्त धारा बही जैसे धनुर्वेद - साधना
द्रव रूप होके लीन हो रही है भूमि में,
जो कि भूमि पतियों के उग्र वर्ण - भेद से
है विदीर्ण, सम्भव है, जुड़े रक्त धारा से।

गुरु - पद - तल के समीप अंगुष्ठ पड़ा,
जैसे लाल पंखड़ी है श्रद्धा - रूपी फूल की,
या कि अनुराग ने है रूप रखा रक्त में,
या कि गुरु भक्ति जोड़ने की संधि रेखा है।

दारुण था दृश्य ! गुरु द्रोण हतप्रभ थे,
पार्थ भूमि में गड़े - से लज्जित मलीन थे,
और एकलव्य झुका हुआ पद - तल में,
रक्त-धारा में सना अंगुष्ठ रखा सामने !

भूमि लाल थी। था सूर्य पश्चिम में रक्तिम,
और बादलों ने एकलव्य-रक्त देख के
अपना शरीर रक्त रंग से सजा लिया,
सारा नभ एकलव्य-दक्षिणा का रूप था।
पीड़ा-भूमि से उठा था अंकुर प्रमोद का,
एकलव्य बोला कुछ बाष्प-भरे-कंठ से —
'देव! इस दक्षिणा का मूल्य इतना ही है,
मेरी साधना को आप देख लेंगे पार्थ में।

आज्ञा दीजिए, मैं लौट जाऊं निज ग्राम को।
बिम्ब आपका जो इस आश्रम की शोभा है,
इसे साथ लेके चला जाऊँ, इसे देख के
मेरे ग्रामवासी भी लगेंगे धनुर्वेद में।

गुरुदेव! जब-जब दृष्टि पड़े आपकी,
अपने पुनीत पद पद्म पर, कृपया —
एकलव्य शिष्य का स्मरण कर प्रेम से,
आशिष का एक शब्द कह जाएँ धीरे से।

मैंने सुना, शिष्यगण गुरुदेव दक्षिणा
करके प्रदान होते उऋण हैं गुरु से,
किन्तु देव! ऋण और धन की है बात क्या,
गुणागार गुरु का तो पुण्य में भी भाग है।'

वायु की तरग कहती थी, गुरु - दक्षिणा,
उष्ण रक्त - धार बहती थी, गुरु दक्षिणा,
सन्ध्याकाश में ज्यों रहती थी, गुरु - दक्षिणा,
पद नत दृष्टि महती थी, गुरु - दक्षिणा।

गूँजे हुए 'गुरु - दक्षिणा' के शब्द में मिले,
'मेरे लाल' ध्वनि जो कि पास आई क्रमश,
चौंक देखा सबने कि विस्फारित नेत्रों से
शीघ्रता से आई एक नारी मुक्त - कुतला।

भर लिया एकलव्य को विकल अक में,
'मेरे लाल!' कह कर माथे पर अश्रु दो,
डाल दिए और रुद्ध कठ से यही कहा—
'एकलव्य! मेरे लाल! लाल मेरे, मेरे रे!'

'माँ! तुम यहाँ हो!'

—एकलव्य विह्वलता से,
बोल उठा अश्रु-भरे - लोचनों से देख के
'कैसे यहाँ!'

—पास देखा तभी एकलव्य ने,
पिता और नागदन्त सम्मुख हैं आ गए।

एकलव्य छूटा जननी के अक-पाश से,
पिता के चरण छुए और कहा धीरे से —

'पिता-श्री भी आ गए हैं, इस पुण्य-वेला में,
भाई नागदत्त! दूर कैसे हो खड़े हुए?'
राज्य सेवी श्री हिरण्यधनु ने समीप आ
गुरु द्रोण को प्रणाम किया श्रद्धा भाव से।
पाण्डु-पुत्र पार्थ-श्री को देख मन्द स्वर में
कहा—'जय राजपुत्र!'
मस्तक झुका लिया।
नागदत्त ने भी दूर से प्रणाम करके,
आँखें रक्त-धारा-सनी भूमि पर डाल दीं।
नेत्र ढके अपनी हथेलियों से माता जो,
अब तक खड़ी थीं, झुकीं निश्चल भाव से।
उन्हें लक्ष्य कर एकलव्य ने कहा—
'हे माँ!
ये ही गुरुदेव मेरे आर्य द्रोणाचार्य हैं।
इन्हें करें प्रणाम!'
माँ ने हाथ नीचे किए,
नेत्र खोल देखा रूप आर्य गुरु द्रोण का।
एकलव्य-रक्त से रँगे हुए वसन में
आर्य द्रोण स्तंभित-से दीख पड़े उनको,
मस्तक झुका के 'जय गुरुदेव!' ही कहा,

सोचने लगीं कि
'हाय ! यह कैसा रक्त है !'
द्रोण बोले—
'देवि ! तुम वीर एकलव्य की
जननी हो ! साधु कहता हू पूर्ण श्रद्धा से ।
वीर एकलव्य ने तपस्या की है वन में,
एकनिष्ठ होके सब माया-मोह त्याग के ।
संयम-अभ्यास द्वारा धनुर्वेद सीखा है,
मेरी मूर्ति के समक्ष साधना की उसने ।
आज वह धनुर्वेद का महा आचार्य है !
विश्व का समस्त इतिहास चिर साक्षी हो ।
कैसे कहूं, गुरु दक्षिणा में एकलव्य का
दक्षिणांगुष्ठ लिया, रक्त यह उसी का है ।'
पिता संकुचित और मौन थे खड़े हुए,
राज्य मर्यादा के समक्ष संयमशील थे ।
जननी ने देखा लाल गुरु के समीप है,
खण्डित अंगुष्ठ होके प्रहसित मुख है ।
गुरु द्रोण को विलोक अर्थ भरी दृष्टि से,
बोलीं—
'गुरुदेव ! आज धन्य मेरा लाल है !

जिसका अंगुष्ठ प्राप्त कर के प्रसन्न हैं।
उसका शरीर भी समर्पित है आप को।

खोजती हूँ आई उसे निज जन-पद से,
उसके पिता सहित नागदन्त साथ ले,
कितने अगम पथ पार किए हमने,
तब इस वन में हैं आए बड़े भाग्य से।

देखा, पुत्र आप के समीप है, सुखी हूँ मैं,
आप की प्रशंसा सुनी पुत्र से ही कितनी,
मैं हूँ भूमिपुत्री, नहीं जानती हूँ शिष्टता,
कैसा व्यवहार होता शिष्टों के समाज में।

किन्तु मेरे मन में उठी है एक भावना,
उसको प्रकट करती हूँ नम्र भाव से,
क्षमा करें आप, यदि मेरी भाषा हीन हो,
पूछूँ ?—

'यदि आपने अनुग्रह से शिक्षा दी,
और धनुर्वेद सिखलाया मेरे लाल को,
अर्थ क्या हुआ, हे देव ! ऐसे धनुर्वेद का
जब दाहिना अँगूठा काट कर ले लिया ?
जैसे मिष्ठ भोजन दे, जीभ कोई काट ले।

आर्यगण वस्तुएँ जो एक बार देते हैं,

उसे लौटा लेना फिर, उनका क्या धर्म है ?
हम तो समझते हैं, दान हुई वस्तु को
फिर से ग्रहण कर लेना बड़ा पाप है।
मुझ को क्षमा करें, मैं पूछती हूँ आप से,
शिष्य मात्र ही क्या गुरु दक्षिणा का दानी है ?
आप के विधान में नियम यदि ऐसा हो,
शिष्य माता से भी दक्षिणा में लिया जाता है।
तो विनीत मेरी प्रार्थना है, देव! सुनिए,
नेत्र मेरे लीजिए पुनीत निज सेवा में,
जिससे न देख सकूँ खंडित अंगुष्ठ मैं,
निज प्रिय लाल के सलोने उस हाथ का।'
स्तब्ध सब हो गए, कथन यह सुन के,
श्याम नभ हो गया दिशाएँ धूमिल हुईं,
गुरु द्रोण बोले—
'क्षमा करो, देवि! माता की
ममता की सीमा कौन जानेगा जगत् में!
रुक न सकूँगा मैं, वीर एकलव्य! स्वस्ति।'
कह कर द्रोण पार्थ सहित चले तभी।
एकलव्य ने सभग रक्तमय हाथों को,
जोड़ कहा —

' गुरुदेव ! शिष्य का प्रणाम है ।
साथ-साथ मैं चलूँगा देव ! पहुचाने को,
जहाँ तक मेरी यह वन - खंड - सीमा है ।'
एकलव्य, उसके पिता तथा नागदन्त,
दूर गए साथ - साथ घोर वन-खंड में ।

एकलव्य का अंगुष्ठ भूमि पर था पड़ा,
उसे देखा जननी ने अश्रु भरी आँखों से,
धीरे से कहा कि
' रक्त - रंगमयी दक्षिणा,
जन जन मानस को एकरूप कर दे ।'
गहरी सध्या हुई थी, चन्द्र उठा व्योम में,
टूटने को हुई अब अधकार - कारा थी ।
एकलव्य - कर से प्रवाहित जो रक्त था,
उसमें विलीन जननी की अश्रु धारा थी ।

परिशिष्ट

[क]

नुर्वेद के प्रयोग पक्ष से सम्बन्धित सामग्री तथा क्रियाओं का स्पष्टीकरण

ग्री तथा क्रियाएँ	स्पष्टीकरण
धनुर्दण्ड	तीन, पाच, सात और नौ पोरा का बनाया जाता है। इसके लिए चन्दन, शाल, शाल्मली के काष्ठ तथा शरभ और महिष के शृग भी काम में लाए जाते हैं।
सर्व श्रेष्ठ ष के लक्षण	'नीति प्रकाशिका' के अनुसार सर्व-श्रेष्ठ धनुष की ग्रीवा मोटी, सिर पतला, मध्य भाग सम, पृष्ठ उत्तम, लम्बाई चार किष्कु (हाथ) दृढ, रक्त, वण तथा 'घर-घर' शब्द करने वाला होना चाहिए।
धनुष के प्रकार	यौगिक, क्रिया शलाका, ज्याघाती, श्रमिक, साग्रामिक, दूरपातक्षम, दृढ वेध, विकष तथा दीघफल—ये समस्त धनुष के प्रकार है जो 'त्र्यम्बक धनुर्वेद' से सिद्ध है। २०० पल (छटाक) का यौगिक धनुष और २ सहस्र पल का दीघ फल धनुष कहा जाता है।
धनुष की गतियाँ	आकर्षण, विकर्षण, पर्यावर्षण, अनुकर्षण, मडलीकरण, पूरण, स्थारण, आसन्नपात, दूरपात, पष्ठपात—ये समस्त धनुष की विविध गतियो का सकेत करते है।
धनुर्मुष्टि	धनुर्वेद में धनुर्मुष्टियाँ धनुदण्ड को दृढता से पकडने के सम्बन्ध में प्रयुक्त होती है। इसके तीन प्रकार है —

१ अध मधान—जिसस वाण वहुत दूर फका जाता ह।

२ ऊध्वमधान—जिसस दृढ वस्तु वेधो जा सकती हैं।

३ समसधान—जिसम अचल लक्ष्य वधा जा सकता ह।

६ प्रत्यचा — धनुष को प्रत्यचा के लिए वकरे, हरिण और भैंस की तांत तिहरी वटी जाती हैं, अथवा चिकने रेशम का सत गहरा वटा जाता ह, अथवा तृण-नीवार, धान या वास के ततु इस प्रकार वटे जाते ह कि उनमें किसी प्रकार ग्रथि नही पडती।

७ मुष्टि — प्रत्यचा को पकडन की विधि। ये विधियाँ पाँच हैं—

१ सिहकण—इसमें तजनी के अग्रभाग और अगुष्ठ के मध्य भाग से प्रत्यचा खीचा जाती ह। लक्ष्य को दृढता से वधन के लिए इसका प्रयोग होता ह। वस्तु को आर पार वधना तथा उसम दूर तक प्रवेश करना सिहकण मुष्टि की विशषता ह।

२ वज्रमुष्टि—तजनी और मध्यमा दोना अँगुलिया के मध्य म अगूठा लगा कर प्रत्यचा खीचना। अधिकतर इसका प्रयोग नाराच (लौहवाण) सधान क लिए होता ह, जिसम प्रत्यचा कान-पयन्त खीची जाती ह। इसमें नाराच छूटने का भय नही रहता।

३ मत्सरी—अंगूठ के नाखून और तजनी के अग्र भाग से प्रत्यचा को खीचना।

४ पताका—अँगूठे के मूल मे तजनी को स्थित कर प्रत्यचा खीचना।

५ काकतुण्डी—तजनी का अग्र भाग अँगूठे के अग्र भाग से जोडकर प्रत्यचा खीचना। इसका प्रयोग सूक्ष्म लक्ष्य वध मे होता है।

८ व्याय — धनुष के खीचने की क्रिया को व्याय कहते है। यह चार प्रकार की है —

१ कनिक-व्याय—प्रत्यचा को केशो तक खीचना।

२ वत्सकर्ण-व्याय—प्रत्यचा को कान तक खीचना। यह दृढ वेधन मे प्रयुक्त होता है।

३ भरत-व्याय—प्रत्यचा को ग्रीवा तक खीचना।

४ स्कधनामा-व्याय—प्रत्यचा को कधे तक खीचना। यह भी दृढ वेधन मे प्रयुक्त होता है।

९ बाण — 'कोदड-मडन' के अनुसार बाण तीन प्रकार के है —

१ नारी-बाण—इसका अग्रभाग स्थूल होता है। दूर के लक्ष्य मे प्रयुक्त होता है।

२ पुरुष बाण—इसका पृष्ठभाग स्थूल होता है। दृढ भेदन मे प्रयुक्त होता है।

३ नपुसक-बाण—यह सर्वत्र एक-सा होता है। सूक्ष्म लक्ष्य मे प्रयुक्त होता है।

बाँस या काष्ठ से बने हुए बाण, पीतवर्ण तथा लोहे के बने हुए बाण, जिन्हें 'नाराच' कहते हैं नीलवर्ण के होते हैं, जिनकी मोटाई कनिष्टा की परिधि के समान होती है।

१० बाणों के पक्ष वायु पर अप्रतिहत गति से सीधे जाने के लिए तथा लक्ष्य-वेध के लिए बाण के पिछले भाग में पक्षियों के पंख जोड़े जाते हैं। पक्ष-रहित-बाण वायु के वेग से लक्ष्य भ्रष्ट हो सकता है, अथवा वायु में कहीं भी उड़ सकता है। छ: छ: अंगुल के पंख तांत या सरेस की सहायता से बाण से दृढतापूर्वक कस दिए जाते हैं। इन पंखों में काक, क्रौंच, गिद्ध, बक, कंक और कपोत के पंख अधिक उपयुक्त होते हैं।

११ बाणों के फल पंख की भाँति बाणों के फल भी अनेक होते हैं जिनमें से निम्नलिखित प्रकार मुख्य हैं —

१ आरामुख—आरे के सदृश्य बाण का मुख, जिससे छाल या अन्य चर्मों का छेदन होता है।

२ धनुपुच्छ—गाय की पूँछ के आकार का बाण-मुख, जिससे सूक्ष्म लक्ष्य-वेध होता है।

३ क्षुरप्र—छुरे के समान मुख वाला बाण, जिससे हाथ या बाण काटा जा सकता है।

४ अर्द्धचन्द्र—आधे चन्द्रमा के समान मुख वाला बाण, जिससे शत्रु की ग्रीवा, मस्तक, धनुष अथवा काण्ड काटा जा सकता है।

५ सूचीमुख—सुई की भांति सूक्ष्म अथवा प्रखर मुख-युक्त वाण, जिससे सूक्ष्म-वध या कवच वेध सभव है।

६ मल्लमुख—बरछी या भाले के समान मुख वाला वाण, जिससे हृदय-वेधन सभव है।

७ वत्सदत—बच्चों के दांतों की आकृति वाला वाण-मुख जिससे प्रत्यचा-कतन या चवण सभव है।

८ कर्णिक—कनर के फल की पँखुरी-जैसा वाण-मुख। इससे दृढ लक्ष्य को काटा जाता है।

१२. लक्ष्य साधन धनुर्वेद में लक्ष्य-साधन चार प्रकार का है —

१ स्थिर लक्ष्य—स्थिर रह कर स्थिर लक्ष्य का वेध।

२ चल-लक्ष्य—स्थिर रह कर अस्थिर लक्ष्य का वेध।

३ चलाचल लक्ष्य—अस्थिर होकर स्थिर लक्ष्य का वध।

४ द्वचल-लक्ष्य—अस्थिर होकर अस्थिर लक्ष्य का वेध।

१३ आसन, स्थिति अथवा पैंतरे लक्ष्य-साधन में अनेक आसनों का भी अभ्यास करना पडता है। इनमें से निम्न-लिखित मुख्य हैं —

१ आलीढ—बाएँ पर को आगे कर और दाहिने पर को पीछे झुका कर तथा दोनों परों के बीच में दो हाथ की दूरी रख कर आक्रमण करना।

२ प्रत्यालीढ—दाहिने पर को आगे कर तथा बाएँ पर को पीछे भुका कर जो आक्रमण किया जाता है।

३ विशाख—दोना परा में एक हाथ का अन्तर रख कर एक ही रेखा म स्थित रह कर आक्रमण करना।

४ समपाद—दोना पर समान रखा म मिले हुए निष्कंपित रहे और तब आक्रमण किया जाय।

५ असम—बायाँ पर आगे और शरीर हाथ पर भुका रहे।

६ गरुड क्रम—बाया घुटना भूमि पर तान कर दाएँ को इस प्रकार मोडे कि तलवे के बल पर सारा भार आ जाय।

७ ददुर-क्रम—दोनो परा को मोड कर भूमि पर टकते हुए आक्रमण किया जाय।

८ पद्मासन—कमल की भाति स्थिर आसन पर बठ कर आक्रमण करना।

१४ विजय, सुनन्द ओर नन्द — ये सब तल्वारो के प्रकार ह।

१५. सकीर्ण युद्ध — वह युद्ध, जिसमें अनेक शस्त्रा का प्रयोग होता है।

परिशिष्ट

[ख]

महाभारत में वर्णित एकलव्य की कथा

सभव पर्व

अध्याय १३२

तती निपादराजस्य हिरण्यधनुप सुत ।
एकलव्यो महाराज द्रोणमभ्याजगाम ह ॥३१॥
न स त प्रतिजग्राह नैपादिरिति चिन्तयन् ।
शिष्य धनुपि धमज्ञस्तेपामेवान्ववेक्षया ॥३२॥
स तु द्रोणस्य शिरसा पादौ गृह्य परन्तप ।
अरण्यमनु सम्प्राप्य कृत्वा द्रोण महीमयम् ॥३३॥
तस्मिन्नाचाय वृत्ति च परमामास्थितस्तदा ।
इष्वस्त्रे योगमातस्थे पर नियममास्थित ॥३४॥
परया श्रद्धयोपेतो योगेन परमेण च ।
विमोक्षा दान सन्धाने लघुत्व परमाप स ॥३५॥

अथ द्रोणाभ्यनुज्ञाता कदाचित्कुरु पाण्डवा ।
रथैविनिर्ययु सर्वे मगयामरिमर्दन ॥३६॥
तत्रोपकरण गृह्य नर कश्चिद्यदृच्छया ।
राजन्ननुज गामक श्वानमादाय पाण्डवान् ॥३७॥
तेपा विचरता तत्र तत्तत्कम चिकीर्पया ।
श्वा चरन्स वनेमूढो नैपादि प्रति जग्मिवान् ॥३८॥
स कृष्ण मल दिग्धाङ्ग कृष्णाजिन जटाधरम् ।
नैपादि श्वा समालक्ष्य भपस्तस्थौ तदन्तिके ॥३९॥
तदा तस्याथ भवत शुन सप्त शरान्मुखे ।
लाघव दशयन्नस्त्र मुमोच युगपद्यथा ॥४०॥
स तु श्वा शरपूर्णास्य पाण्डवानाजगाम ह ।
त दृष्ट्वा पाण्डवा वीरा पर विस्मयमागता ॥४१॥

लाघव शब्दवेधित्व दृष्ट्वा तत्परम तदा ।
प्रेक्ष्य त व्रीडितास्चासन्प्रशशसुश्च सर्वश ॥४२

त ततोऽन्वेषमाणास्ते वने वन निवासिनम् ।
ददृशु पाण्डवा राजन्नस्यन्तमनिश शरान् ॥४३॥
न चैनमभिजानस्ते तदा विकृत दर्शनम् ।
तथैन परिपप्रच्छु को भवान्कस्य वेत्युत ॥४४॥

एकलव्य उवाच

निषादाधिपतेर्वीरा हिरण्यधनुष सुतम् ।
द्रोण शिष्य च मा वित्त धनुर्वेद कृतश्रमम् ॥४५॥

वशम्पायन उवाच

ते तमाज्ञाय तत्त्वेन पुनरागम्य पाण्डवा ।
यथा वृत्त वने सर्वं द्रोणायाचरयुरद्भुतम् ॥४६॥
कौन्तेयस्त्वर्जुनो राजन्नेकलव्यमनुस्मरन् ।
रहो द्रोण समामाद्य प्रणयादिदमब्रवीत् ॥४७॥

अर्जुन उवाच

तदाह परिरभ्यैक प्रीतिपूर्वमिद वच ।
भवतोक्तो न मे शिष्यस्त्वद्विशिष्टो भविष्यति ॥४८॥
अथ कस्मान्मद्विशिष्टो लोकादपि च वीयवान् ।
अन्योऽस्ति भवत शिष्यो निषादाधिपते सुत ॥४९॥

वशम्पायन उवाच

मुहूर्तमिव त द्रोणश्चिन्तयित्वा विनिश्चयम् ।
सव्यसाचिनमादाय नैषादि प्रति जग्मिवान् ॥५०॥
ददर्श मलदिग्धाङ्ग जटिल चीरवाससम् ।
एकलव्य धनुष्पाणिमस्यन्तमनिश शरान् ॥५१॥
एकलव्यस्तु त दृष्ट्वा द्रोणमायान्तमन्तिकान् ।
अभिवाद्योप सगृह्य जगाम शिरसा महीम् ॥५२॥

पूजयित्वा ततो द्रोण विधिवत्स निषादज ।
निवेद्य शिष्यमात्मान तस्थौ प्राञ्जलिरग्रत ॥५३॥
ततो द्रोणोऽब्रवीद्राजन्नेकलव्यमिद वच ।
यदि शिष्योऽसि मे वीर वेतन दीयता मम ॥५४॥
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा प्रीयमाणोऽब्रवीदिदम् ।

एकलव्य उवाच

कि प्रयच्छामि भगवन्नाज्ञापयतु मा गुरु ॥५५॥
न हि किञ्चिददेय मे गुरवे ब्रह्म वित्तम ।

वैशम्पायन उवाच

तम ब्रवीत्त्वयाङ्गुष्ठो दक्षिणा दीयतामिति ॥५६॥
एकलव्यस्तु तच्छ्रुत्वा वचो द्रोणस्य दारुणम् ।
प्रतिज्ञामात्मनो रक्षन्सत्ये च नियत सदा ॥५७॥
तथैव हृष्टमनसस्तथैवादीन मानस ।
छित्वाऽविचार्य त प्रादाद् द्रोणायाङ्गुष्ठमात्मन ॥५८॥
तत शर तु नैषादिरङ्गुलीभिव्यकर्षत
न तथा च स शीघ्रोऽभूद्यथा पूर्वं नराधिप ॥५९॥
ततोऽर्जुन प्रीतमना बभूव विगतज्वर ।
द्रोणश्च सत्य वागासीन्नान्योऽभि भविताऽर्जुनम् ॥६०॥

— ६०

—